स्वर्गीय श्री विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल'

रचित

बुद्धदेव

अथवा

मूर्त्तिमान त्याग

लेखक-अनुज

मुरारीशरण माङ्गलिक

द्वारा सम्पादित

ग्रंथ-संख्या—४३
प्रकाशक
भारती-भण्डार,
विक्रेता
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सम्वत्, ६२
१॥)

मुद्रक
श्री गुरुराम विश्वकर्मा, 'साहित्यरत्न'
सरस्वती-प्रेस, बनारस कैन्ट।

श्री विश्वम्भरसहायजी 'व्याकुल' को सन् १९१९ में मेरठ में देखा था। उस समय 'बुद्धदेव' नाटक की रचना कर रहे थे, नाटक पूरा किया। सन् १९२५ में इस लोक को उन्होंने छोड़ दिया। मैं दूसरी बार उनसे न मिल सका। उनके छोटे भाई श्री मुरारीशरणजी ने हाल में मुझे लिखा कि व्याकुल जी की इच्छा थी कि नाटक छाप कर जनता के सामने रक्खा जाय; पर इसके पहले मुझे सुना दिया जाय और मेरी सम्मति-सहित प्रकाश किया जाय। मैंने उनकी इस इच्छा को शिरसा धारण किया। सज्जन की ऐसी इच्छा की पूर्त्ति भी, और बुद्धदेव के अत्युज्ज्वल चरित्र की चर्चा भी, जिससे चित्त के चिर संचित मल का शोधन, विविध पाप का मार्जन, सांसारिक झंझटों से विश्राम, सात्विक भावों का उद्बोधन, आत्मा का उत्कर्ष होता है।

श्री मुरारीशरणजी ने मुझको इस रचना का अधिकांश सुनाया। मुझे बहुत रुची, बहुत प्रिय जान पड़ी। दया, वात्सल्य, करुणा रस की प्रधानता होते हुए भी, मीठा, हास्य-रस और संसार के पापांश का शिक्ष, प्रद चित्रण भी स्थान स्थान पर बहुत अच्छा किया है। धर्म वीरता त्याग-वीरता, दया वीरता तो पद-पद पर देख पड़ती ही है।

भाषा का भी प्रवाह निष्प्रयास अति सुबोध्य है, ललित और स्वारसिक स्वाभाविक है। तिसपर भी परिष्कृत है। गद्य में भी बहुधा अनुप्रास अनायास रक्खे हैं। पद्य भी खड़ी बोली में होते हुए बहुत मिष्ट और प्रसाद गुणयुक्त हैं। बहुतेरे तो उर्दू कविता के छंदों में हैं, जिससे हिन्दी के पाठकों को एक विशेष नूतनता का अनुभव होगा। पुस्तक की गणना हिन्दी काव्य-साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों में होगी और इससे बहुतों की भावशुद्धि और उपकृति होगी।

मैं श्री विश्वम्भरसहायजी की आत्मा को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने मुझे अपनी अन्तिम इच्छा से महापुरुष की सच्चर्चा, सत्सग और भावशुद्धि का लाभ दिया।

काशी सौर
१-१२-१९८७ वि०

भगवान्दास

नाटककार

परिचय

कोई समय था जब कि व्यवसायी पारसी थिएटर कम्पनियों के रंग-मंच पर हमारी भाषा अपने सरल-से-सरल और प्रचलित-से-प्रचलित रूप में भी कभी नहीं फटकने पाती थी। तुक भिड़ाते हुए उर्दू के लच्छेदार वाक्य ही सुनाई पड़ते थे। उर्दू से कोरी अधिकांश जनता केवल सीन-सीनरी का तमाशा देखने तथा घटना-चक्र के चढ़ाव-उतार से कुछ कुतूहल और मनोरंजन प्राप्त करने के लिए ही पारसी थिएटरों में जाया करती थी। न तो उसे कथोपकथन की विचित्रता और पटुता का आनन्द आता था, न वह किसी गम्भीर भाव में निमग्न होती थी। प्राचीन हिन्दू-कथाओं को लेकर जो दो-चार नाटक खेले जाते थे, उनसे तो और भी विरक्ति होती थी। जिस समय चूड़ीदार पायजामा, कोट और ताज पहने हुए राजा हरिश्चन्द्र और पंप शू पहने उनकी रानी आधी ग़यासुल्लुग़ात खतम करके "हर इन्साँ पर ख़ास-ओ-आम" गाते हुए निकलते थे, उस समय भारतीयता भाड़ में झुँकती दिखाई देती थी। अपने देश की सच्ची भाषा में लिखे नाटकों के अभिनय का प्रबन्ध कुछ विशेष अवसरों पर हिन्दी के प्रेमी कभी-कभी कर लिया करते थे।

धीरे-धीरे काशी, प्रयाग आदि नगरों के कुछ उत्साही हिन्दी-प्रेमियों

ने अभिनय-कला की ओर ध्यान दिया और नाटक-मण्डलियाँ स्थापित कीं, जिनके द्वारा समय-समय पर वे शिक्षित जनता का मनोरञ्जन करने लगे। इन नाटक-मण्डलियों की लोक-प्रियता धीरे-धीरे पारसी-कम्पनियों के ध्यान में आने लगी और उन्होंने अपने व्यवसाय की दृष्टि से हिन्दी में कुछ नाटक लिखाकर खेलना आरम्भ किया। 'बेताब' का महाभारत देखने के लिए जिस धूम से जनता टूटने लगी, उसे देख व्यवसायी कम्पनियों का बहुत दिनों का भ्रम दूर हुआ। उनका ध्यान हिन्दी में भी नाटक दिखाने की ओर रहने लगा। इस प्रकार हिन्दी का प्रवेश तो इन कम्पनियों में हुआ ; पर नाटक वे अपने ही लेखकों से लिखाती हैं। इन नाटकों की भाषा हिन्दी तो होती है ; पर उर्दू वालों के मुँह से निकली हुई-सी। वह व्याकरण की दृष्टि से व्यवस्थित और साहित्य की दृष्टि से प्रांजल नहीं होती। उसमें उर्दू नाटकों की भाषा का परम्परा-गत ढाँचा बहुत कुछ रहता है। गद्य मे भी वही तुक-बाज़ी अभी चली चलती है। अप्रचलित अरबी-फ़ारसी के बेमेल शब्द भी बीच-बीच में कानों को झेलने पड़ते हैं।

यह सब देखकर स्वर्गीय श्रीयुत विश्वम्भरसहायजी व्याकुल ने 'व्याकुल भारत कम्पनी' की स्थापना की थी, जिसके द्वारा उन्होंने भाषा और कला की दृष्टि से शिष्ट साहित्य में गिने जाने योग्य नाटकों के अभि-नय का सूत्रपात किया था। वे स्वतः नाट्यकला के मर्मज्ञ नाटककार थे। उन्होंने अपने रचे कुछ नाटक खेले, जिनकी शिक्षित जनता के बीच बहुत ख्याति हुई। प्रस्तुत नाटक 'बुद्धदेव' उन्हीं में से है। इसे पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जायगा, कि यह व्यवसायी कम्पनियों द्वारा खेले जानेवाले और नाटकों से कितना अधिक समुन्नत है। पहली बात इसकी भाषा है, जो शिष्ट और परिमार्जित है। मैं समझता हूँ अपने वर्ग का यह पहला नाटक है, जिसकी भाषा वर्त्तमान साहित्य की भाषा के मेल में आई है। इसके लिये इसके लेखक श्रीयुत व्याकुलजी को हिन्दी-प्रेमी सदा साधुवाद के साथ स्मरण करेंगे। कथा-वस्तु के बीच लेखक ने अपनी कल्पना से जो

दृश्य रखे हैं, वे समाज के कुछ अंगों की दशा के अच्छे प्रतिविम्ब हैं। अवतार की जैसी भावना लेकर नाटक की रचना हुई है, प्रथम अंक के पहले दृश्य में स्वार्थ, हिंसा, पाखण्ड आदि द्वारा धर्म का आक्रान्त होना उसके बहुत ही अनुरूप हुआ है। वस्तु-विन्यास भी कौशल से हुआ है, जो स्थल अधिक मार्मिक हैं, उनके दृश्य-विधान और कथोपकथन में दर्शकों पर पड़नेवाले प्रभाव पर पूरी दृष्टि रखी गई है। पात्रों की बातचीत में विचित्रता और प्रत्युत्पत्ति है। जिस क्रम से यह नाटक उन्नति की ओर अग्रसर हुआ है वह क्रम यदि चला चले तो व्यवसायी कम्पनियों के रङ्ग-मञ्च पर भी उच्चकोटि के नाटक बहुत शीघ्र अभिनीत होते दिखाई पड़ेंगे।

पारसी थिएटरों के कुछ लटके इस नाटक में भी मिलेंगे—जैसे तुक-बन्दी में बातचीत और ग़ज़लबाज़ी। बात यह है, कि एक बारगी आगे कूदने से उन्नति की ओर अग्रसर होनेवालों के मार्ग में बाधा की आशंका रहती है, इससे वे कुछ पुरानी बातों को लिए हुए क्रमशः आगे बढ़ते हैं। इनके अतिरिक्त और त्रुटियाँ जो इस नाटक में हैं, वे ऐसी हैं जिनको दूर होते अभी कुछ दिन लगेंगे। जिस काल की घटना को लेकर यह नाटक लिखा गया है, उस काल की सामाजिक परिस्थिति क्या थी, परस्पर रीति-व्यवहार और शिष्टाचार का ढंग क्या था, इन सबको ब्योरे के साथ जानने का प्रयत्न लेखक ने नहीं किया है। जिस पशु-हिंसा का विरोध भगवान् बुद्ध ने किया था वह शाक्तों द्वारा देवी के सामने होनेवाला बलिदान न था, वैदिक यज्ञों में होनेवाला बलि था। जिस प्रकार के रसायनी बाबाजी और पुजारी लाये गये हैं उनका अस्तित्व उस काल में न था। सारांश यह कि गौतम बुद्ध के समय की संस्कृति का चित्रण नहीं हो पाया है।

दुर्गाकुण्ड, काशी

१८—१—१९३५

रामचन्द्र शुक्ल

बुद्धदेव

पहला अङ्क

पहला दृश्य

पर्वत की जन-शून्य कन्दरा

[धर्म का गला पाखंड ने दबा रक्खा है , दया पर हिंसा खड्ग तोल रही है ; और शान्ति को स्वार्थ कुचल रहा है]

धर्म—(आकाश की ओर देखता हुआ) रक्षा करो ! जगदीश्वर, रक्षा करो ! इस वृद्ध के प्राण बचाओ । प्रभु ! स्मरण करो, तुम्हारा ही वाक्य है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, तभी मैं अवतार लेकर उसका उद्धार करता हूँ । दयामय ! फिर कब आओगे ? आओ ! अब इस पतित, पद-दलित देश को उठाओ, मेरी ओर सहायता का हाथ बढ़ाओ । सर्व शक्तिमान् ! शक्ति दो ! शक्ति दो !!

दया—(कातर स्वर से) भगवन् ! जिस आर्यावर्त में जातीय सेवा के लिये अपनी अस्थियाँ अर्पण करने वाले महात्मा

दधीचि ने जन्म लिया और जिस भारतवर्ष में, राज्यपद का त्याग कर, अखंड ब्रह्मचर्य धारण करने वाले भीष्म ने जन्म लिया, आज उसी तुम्हारी प्यारी पवित्र भूमि पर हिंसा खड्ग चला रही है ; पाखंड के आकाश में स्वार्थ की चील मँडला रही है।

छा गया है देश की चारों दिशा में अन्धकार ,
बनगये आचारी व्यभिचारी, पुरोहित चोर-जार।
बह रही है ईर्ष्या और द्वेष से शोणित की धार ,
छल-कपट से चल रही है राजनीति की कटार।
युक्ति से धन छीनना अब धर्म कहलाने लगा ,
हे मेरे भगवान•! यह कैसा समय आने लगा !

पाखण्ड—स्वागत करो, मूर्खों ! इस समय का सम्मान करो, सत्कार करो ; क्योंकि इसी समय के कारण तुम में जागृति आई है। यही समय है, जिसने तुम्हें अज्ञान के अन्धेरे गढ़े से निकाल कर विज्ञान के उद्यान में खड़ा कर दिया है ; जहाँ सभ्यता के सूर्य की उज्वल किरणे तुम पर अपना प्रकाश डाल रही हैं। विचार करो—जिस जाति के लोग महाराज हरिश्चन्द्र और बलीत के समान इतने सीधे और भोले हुआ करते थे कि किसी कार्य का परिणाम सोचने से पहले ही उसके पूरा करने का वचन दे दिया करते थे, अब वे इतना तो समझने लगे कि 'हमें कहाँ सच से काम लेना चाहिये और कहाँ झूठ से। यह क्या है ? यह सब इसी समय का तो प्रताप है ; इसी का तो प्रसाद है।

धर्म—इसी समय का ! इसी अंधकार-मय समय का—जिसमें स्वार्थ सर्वव्यापक है—जिसमें पुत्र ने पितृ पूजा से हाथ उठा लिया ; पिता स्नेह-शून्य हो गये, शिष्य गुरु-सेवा से आँख चुराने लगा, गुरु विद्या का मोल ठहराने लगा ; जिसमें भाई का शत्रु भाई बन गया, स्त्री गाय भैंस के समान पुरुष की सम्पत्ति समझी जाने लगी, पत्नी का पातिव्रत कलुषित होगया ; जिसने हमारा सर्वनाश किया ; हमें कायर, आलसी, झूठा, निर्लज्ज और उत्साह हीन बनाया , जिसने हमारी जाति के टुकड़े-टुकड़े किये, हमारे एकता के खेत में फूट का बीज बोकर हमें पराधीन बनाया !

प्रेम सूर्य छिप गया, द्वेष ने किया अँधेरा ,
अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी ने घेरा ।
दुर्विचार, दुर्दैन्य, दुख का हुआ बसेरा ,
देश-द्रोह, दासत्व, दम्भ ने डाला डेरा ।

स्वार्थ—तुम कृतघ्न हो, अन्यायी हो ।

धर्म—हम कृतघ्न हैं या अन्यायी हैं, इसका प्रमाण तो इतिहास दे रहा है । याद करो, जिस समय तुमने इस पुण्य-भूमि में आश्रय लिया था, उस समय एक तनिक से उपकार के बदले तुम्हें कितना पुरस्कार मिला था । (पश्चात्ताप से हाथ मलकर) हाय ! वह कैसी घड़ी थी ! कैसा मुहूर्त्त था !!

हिंसा—भाई स्वार्थ, ये यों नहीं समझ सकते ।

स्वार्थ—निस्सन्देह ! कदापि नहीं ! लात का भूत बात से नहीं मानता ।

कभी देखा है धीमे आग से लोहा पिघलता है ?
मनाओ प्यार से बालक को तो दुगना मचलता है।
हो कोड़ा हाथ में तो बैल घोड़ा रथ मे चलता है।
कही, बतलाओ, सीधी अँगुलियों से घी निकलता है ?

पाखण्ड—क्यों ? क्या कहते हो ? मतिमन्दो ! बोलो, अब भी हमारी शरण आओगे, या यों ही विद्रोह फैलाये जाओगे ?

धर्म—तुम्हारी शरण ? पाखण्ड के अधीन धर्म ? स्वार्थ के वश में शान्ति ! हिंसा को शरण दया ! यह कदापि नहीं हो सकता।

हिंसा—फिर अब क्या सोचते हो ? मार डालो, हत्या टालो।

स्वर्थ—हाँ, इन पर दया...... ।

धर्म—(बात काट कर) सँभालो, चांडालो ! अपनी जिह्वा को संभालो ! ऐसे परम पवित्र शब्द का प्रयोग इस मुँह के योग्य नहीं ! दया ! तुम्हारे हृदय में दया का बास, चील के घोंसले में मांस ?

पाखन्ड—ओ हो ! यह साहस, यह उत्साह !

धर्म—हर के हाथ निवाह !

पाखण्ड—तुम्हें हमारे बल का अनुमान नहीं ?

धर्म—और तुम्हे रावण के परिणाम का ध्यान नहीं ?

स्वार्थ—मेरे प्रभाव की भी परीक्षा है।

शान्ति—हाँ, दुर्योधन को कथा में यह शिक्षा है।

हिंसा—देखो, मुझसे सारा संसार डरता है।

दया—नहीं ; तुझसे जीव-मात्र घृणा करता है।

हिंस—(खड्ग उठा कर) जीव-मात्र घृणा करता है तो, तू भी कर ! ले (हाथ के झटके से दया को पृथ्वी पर गिरा कर) जो मरनाही चाहती है तो मर !

दया—(धरती पर गिरी हुई प्रार्थना करती हुई, आकाश की ओर देख कर)

दीनबन्धु-भगवान्, दयामय, कृपासिन्धु भव-भय-हारी ।
शोक-विमोचन, विश्वविरोचन, राजिव-लोचन सुखकारी ।
संकट भंजन, जन मन रञ्जन, दुष्ट-निकंदन असुरारी ।
'व्याकुल' है यह दुखिया अबला, टेर सुनो, करुणाधारी ॥

पाखण्ड—मूर्खो ! तुम कैसाही हाहाकार मचाओ, कितना ही चिल्लाओ, तुम्हारा दीनबन्धु अब तुम्हारी एक नहीं सुन सकता ।

धर्म—कारण ?

स्वार्थ—कारण यही, कि मैंने अपने मित्र पाखण्ड की सहायता से उसे भी स्वार्थी, लोभी और पक्षपाती बनादिया है । मोहन मठरी और माखन मिसरी की चाटपर लगाकर तुम्हारे जन-मन-रञ्जन का नाम लाडूभञ्जन रखलिया है ।

दया—तुम्हारे रख लेने से कुछ नहीं हो सकता; हीरे की चमक कोयला नहीं खो सकता—अनीति से कहीं उसकी अटल नीति बदलती है ? रगड़ खाकर ही तो पत्थर से चिनगारी निकलती है ।

पाखण्ड—बदल गई ! उसकी नीति तो कभी की बदलगई, और उसकी जगह हमारी युक्ति चलगई—

तीर्थ-यात्रा के फल से ही मिलने लगे मुक्ति निर्वाण।
रोग, शोक सब मिट जाते हैं विप्रों को देने से दान॥
भोजन में स्वादिष्ट मिष्ट से करे ब्राह्मण का सम्मान।
सब इच्छायें फलीभूत कर देता है उसकी भगवान्॥

दया—(आकाश की ओर हाथ जोड़कर) सुन लो; स्वामी! सुन लो; अन्तर्यामी! सुनलो; पापी क्या कह रहे हैं!—

हमारे प्राण जो लेलें तो कुछ नहीं चिन्ता,
बुरा कहें, जो हमें चाण्डाल कहते हैं।
कहें न दुष्ट कहीं देख कर हमें 'व्याकुल',
यह उनके भक्त हैं जिनको दयाल कहते हैं।
हमारी टेर की कुछ आन-कान रह जावे,
तुम्हारे भक्तों की भक्ति का मान रहजावे।

(नेपथ्य से)—'क्या है? क्या है? कैसी हाहाकार है?'

[अकस्मात् शिव प्रकट होते हैं। राक्षस भाग जाते हैं]

दया—अत्याचार है! भगवन्, हम पर अत्याचार है! दुष्ट राक्षस सताते हैं; (अँगुली से नेपथ्य की ओर संकेत करके) वह देखिये! आपके भय से भागे जाते हैं।

शिव— धैर्य धरो! देवियो, धैर्य धरो! इनके नाश का समय निकट आरहा है, सिर पर काल मँडला रहा है।

धर्म—महेश्वर, कैसे धैर्य धरें, कब तक सन्तोष करें! एक दिन का दुःख हो तो भरें।

अब तो जग में बीज हिंसा का अविद्या बो गई,
खड्ग जीवों पर चलाना देव-पूजा हो गई।
आचमन अमृत का है, पीना-पिलाना रक्त का,
नाथ! दुष्कर हो गया जीना तुम्हारे भक्त का।
रात दिन का क्लेश यह हमसे सहा जाता नहीं,
ऐसी प्राणों पर बनी है, कुछ कहा जाता नहीं।

दया—जिन ब्राह्मणों ने पहले हमारा मान बढ़ाया, हमें अपने हृदय में बिठलाया, अब उन्हीं की सन्तान हमारे अपमान पर तन रही है; प्राणों की गाहक बन रही है। मनुष्यों को युक्ति से समझाते हैं, श्रुति और स्मृति की उक्ति बतलाते हैं, कि 'शक्ति ही की भक्ति प्रधान है, जीवों के बलिदान में ही मनुष्यों का कल्याण है।' सुने आपने इन लोगों के श्लोक भी सुने?—

'न मांस-भक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने'

शिव—देवियो! जो कुछ कहो सो थोड़ा; इन महात्माओं ने तो किसी को भी नहीं छोड़ा। एक क्या, सारे देवताओं को कलंक लगा दिया, तन्त्र-शास्त्र का कर्त्ता तो मुझे और पार्वती ही को ठहरा दिया।

[नेपथ्य से बकरियों के मिमियाने का शब्द सुनाई देता है]

दया—सुनो, त्रिपुरारि, सुनो! कैसी आर्तवाणी से प्राणी चिल्ला रहे हैं। [भैंसे के रँभाने का शब्द सुनाई देता है] हाय! हाय! जब खड्ग लेकर घातक सामने खड़ा होता है! वह दृश्य भी बड़ा भयानक और कड़ा होता है! प्राण जाने के भय से आँखों में

आँसू भर कर प्राणी मुझे पुकारता है; किन्तु मनुष्य अज्ञानी मेरी ओर नहीं निहारता। कहो उमापति! अब हमारी क्या गति होगी?

शिव—शान्ति रखो, शान्ति रखो!! इतनी व्यग्र मत हो। देवता जानते हैं धर्म नष्ट हो रहा है; पृथ्वी जीवों के ताप से तपित है, तुम्हे बड़ा कष्ट हो रहा है। इसीसे प्रेरित होकर तो भगवान ने फिर इस भूमि पर अवतार लिया है।

शान्ति—(घबराकर) एँ! भगवान ने अवतार?

शिव—हाँ, अब देवियों के दुख का अन्त होने वाला है।

शान्ति—अन्त नहीं, देवेश, यह तो अनन्त होने की सूचना है। एक समय ब्राह्मणों का अधिकार बढ़ाने के लिये प्रभु ने, कुठार हाथ में लिये, जन्म लिया, माता को मार, पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्री-शून्य किया—

मारे सारे वीर योद्धा विप्र-शासन के लिये,
मच गया पृथ्वी पै हाहाकार जीवन के लिये।

धर्म—हे महेश! फिर, भगवान ने प्रचंड धनुष धारणकर लंका पर जा डंका बजाया। 'असुर' और 'राक्षस' कह-कह कर लाखों मनुष्यों को यमलोक पहुँचाया। रावण-विजयी होकर आये, राज-काज सँभाला, तो वशिष्ठ के संकेत से शम्बूक तपस्वी का बध कर डाला; निरपराधिनी सीता को निर्वासित किया; चौदह वर्ष की सेवा-रूपी कठिन तपस्या करने वाले लक्ष्मण को प्राण-दण्ड दिया—

हाय कैसा निर्दयी रूखा कठिन व्यवहार था !
प्रेम-करुणा-शून्य क्या जब भी युँहीं संसार था ?

दया—नाथ ! फिर द्वापर में आये तो वही चक्र चलाते आये, रुधिर बहाते आये। कुछ अर्जुन की बुद्धि ठिकाने आई, उसने हम पर करुणा दिखाई ; परन्तु, महाराज की नीति और युक्ति के आगे, उसे भी शीश झुकाना पड़ा, धनुष-बाण उठाना पड़ा—

तान-तान कर बाण छोड़ने लगा धनञ्जय,
मानो कर घननाद बोलने लगा गगन 'जय'।
गिरे रुण्ड पर मुण्ड बन्धु-वर्गों के कटकर,
रोती थीं रमणियाँ लोथ से लिपट-लिपट कर।

यह जितना रक्तपात हुआ सब मेरे ही ऊपर तो बज्राघात हुआ ! भूतनाथ, यह सुनकर कि भगवान ने फिर मनुज देह धारण की है, मेरा हृदय काँप रहा है। अबकी बार न जाने कितना हाहाकार मचेगा, कितने घरों की स्त्रियाँ रोती फिरेंगी, और कितनी जल-जल कर मरेंगी।

शिव—अब उन पिछली बातों को जी से भुला दो ; इन शंकाओं को हृदय से निकाल डालो ; बीती हुई व्यथा के स्मरण से क्लेश ही बढ़ता है, कोई लाभ नहीं होता। सुवदने ! निश्चय रखो, अबकी बार भगवान बोधिसत्त्व का अवतार हुआ है ; वह प्रेम और दया ही का प्रचार करेंगे, जीव-मात्र की वेदना हरेंगे—

मनुष्यों को बताकर सत्य-पथ हिंसा छुड़ायेंगे,
अविद्या को मिटाकर ज्ञान का दीपक दिखायेंगे।
जिन्हे है गर्व उज्ज्वल वर्ण का और उच्च जाती का,
उन्हे विद्या, दया और धर्म के बल से घटायेंगे।
चलेंगे उनके पथ पर जो, जो उनसे ज्ञान पायेंगे,
मरण और जन्म से होकर रहित, निर्वाण पायेंगे।

धर्म—धन्य हो! धन्य हो! किन्तु पवित्रदेव, यह तो बताइये कि कहाँ और कौन से कुल-सरोवर में यह अनुपम कमल खिला है; किस भाग्यशाली को पिता कहलाने का सौभाग्य मिला है।

शिव—जाम्बू द्वीप के भारतवर्ष में कपिलवस्तु एक प्रसिद्ध राजधानी है, जहाँ का प्रत्येक मनुष्य सुकर्मी और ज्ञानी है। उसी पुण्य भूमि को भगवान ने पवित्र किया है; शाक्य राजा शुद्धोधन के यहाँ जन्म लिया है।

शान्ति—अहा! वह जननी भी धन्य है, जिसने अपनी कोख से भगवान को जन्म दिया, बाल-चरित्र का आनन्द लिया।

शिव—देवता को गर्भ में रखने वाली का स्थान देवलोक में ही होना उचित है; इसलिये रानी माया बाल-क्रीड़ा नहीं देखने पाई; पुत्र जन्म के सातवें दिन देवलोक को चली आई। नन्दन का लालन-पालन उनकी विमाता, रानी गोतमी, ने किया; इसीलिये उनका दूसरा नाम गौतम हुआ।

दया—गोतमी भी अवश्य कोई दैवी अंश है, जिसने ऐसे दुर्लभ नन्दन को दूध पिलाया।

धर्म—कृपानिधे! भगवान हमें कबतक कृतार्थ करेंगे?

शिव—हम इसका तुम्हें अभी प्रमाण देंगे। (ताली बजाकर) इन्द्र! वरुण! कुबेर!

[अकस्मात तीनों देव प्रकट होते हैं]

तीनों देवता—आज्ञा? देवेश! आज्ञा?

शिव—सुनो, सुरपति, सुनो! आज भगवान् बोधिसत्व कृषिग्राम को देखने के लिये जायँगे; हम वहीं उनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न करायेंगे। इसलिये पहले वरुण वहाँ जाकर दादुर की देह बना कर जल में प्रवेश करें, और कुबेर सर्प बन कर नदी के तट पर विचरें; तुम चील बन कर आकाश में उड़ो। जिस समय बोधिसत्त्व की दृष्टि उधर को जाय, तो तुरंत ही मेंढ़क पानी से निकल कर बाहर आय, और साँप उसे निगल जाय, फिर तुम आकाश से झपट कर सर्प को उठा ले जाओ। बस, आज यही दृश्य दिखाओ।

इन्द्र—जैसी इच्छा! (इन्द्र, वरुण, और कुबेर तीनों जाते हैं)

शिव—धर्म! अब इन देवियों के सहित तुम भी जाओ! हर्ष मनाओ! आनन्द-मंगल के गीतों से बुद्ध का स्वागत करो, उत्सव रचाओ! ससार में सर्वत्र इस शुभ समाचार का प्रचार करो—'आज निराशों के लिये आशा, निरवलम्बों के लिये सहारा, अन्धकार में पड़े हुओं के लिये ज्योति, और अशान्तो के लिये चिरशान्ति लेकर भगवान् बोधिसत्त्व संसार में पधारे हैं।

दया, धर्म, शान्ति—(एक स्वर से) सौभाग्य! त्रिशूल-पाणि, हमारा सौभाग्य!

[सब का प्रस्थान]

पहला अङ्क

दूसरा दृश्य

जंगल

[सिद्धार्थ मित्रों सहित आते हैं]

पहला मित्र—देखिये, युवराज, नगर की मानवी रचना और प्रकृति के स्वाभाविक सौंदर्य में कितना अन्तर है।

दूसरा मित्र—क्यों नहीं! वहाँ हर एक बात में बनावट है, और यहाँ वास्तविक सजावट है।

तीसरा मित्र—

वहाँ शोभित भवन की चित्रकारी से अटारी है,
सुगंधित फूल पत्तों से यहाँ खेतों की क्यारी है।
वहाँ भोजन की हर एक वस्तु चिकनी और भारी है,
यहाँ स्वादिष्ट ऋतु-अनुकूल बन की फल-फलारी है।
यहाँ वृक्षों के नीचे धूप भी है और छाया है,
वहाँ ऐसा, कभी देखा, किसी ने सुख उठाया है?

चौथा मित्र—हाँ, वहाँ यह बात कहाँ ?

पहला मित्र—यहाँ जिधर दृष्टि जाती है, मन मुग्ध हो जाता है।

दूसरा मित्र—अहा ! देखिए, राजकुमार, सूर्य की किरणें नदी के जल में ऐसी झिल-मिला रही हैं, मानों स्वर्ण-वर्णी युवतियाँ हिलमिल कर नहा रही हैं।

तीरसा मित्र—देखिये ! अपने कृषक जनों को देखिये ! खेती के लिये कितना परिश्रम उठा रहे हैं।

चौथा मित्र—मित्र ! इधर देखो, यह देखो वृक्षों पर बैठे हुये पक्षी कैसी प्रसन्नता से चह-चहा रहे हैं—

> कोयल है मग्न देखिये अपनी ही तान में,
> 'पी-पी' निकल रहा है पपीहे के गान में।

पहला मित्र—(सिद्धार्थ के मुख को देखकर) किन्तु युवराज ! आपका मन तो यहाँ भी चिंतित ही प्रतीत होता है ; ऐसा सुहावना समय भी उदासीनता से ही व्यतीत होता है।

सिद्धार्थ—कैसे न हो ? क्योंकर न हो ? मैं देखता हूँ कि किसान की रोटी में किस प्रकार मिठास के साथ कडुवाहट मिली हुई है। कठिन परिश्रम से बैलों के कन्धे सूजे हुए हैं, और पैनी आर की मार से उनकी खाल छिली हुई है। हाली के हल की फाली से पृथ्वी में रहने वाले न जाने कितने जीवों का जीवन जाता है। उसे, मुझे या तुम्हें, उनके दुख का, किसको अनुभव हो सकता है ? कभी किसी को ऐसा ध्यान भी आता है ? (नेपथ्य

की ओर संकेत करके) वह देखो ! झाड़ियों में दुर्बल और प्रबल जीवों में कैसा भयंकर संग्राम हो रहा है ! इधर देखो ! नदी के निर्मल जल में बगुला मछली पकड़ने के लिये बार-बार चोंच डुबा रहा है !

दूसरा मित्र—हाँ ! और देखिये, पानी से फुदकता हुआ कैसा पीला मेंढक निकला।

[एक ओर से साँप आकर मेंढक को निगल जाता है]

सिद्धार्थ—यह लो ! उसे तो सर्प ने निगला !

तीसरा मित्र—ऐं ! सर्प ने मेंढ़क ! [एक चील आकाश से झपट कर साँप को उठा ले जाती है]

सिद्धार्थ—(आकाश की ओर देखकर) अरे यह क्या ! चील सर्प को ले उड़ी। कैसी शोचनीय दशा है, जीव-जीव में शत्रुता है। इस सुन्दर दृश्य की आड़ में, एक-दूसरे को मार डालने वाली, बड़ी भयंकर और असभ्य युद्ध छिपी हुई है, जो एक छोटी चींटी से लेकर मनुष्य-महाशय के हृदय तक में अंकित है ; किंतु जीवन फिर भी मृत्यु पर जीवित है। मित्रवरो—

इसी भूमि की क्या वह भूमिका तुमने सुनाई थी ?
इसी की वह प्रशंसा थी, इसी की वह बड़ाई थी ?
यहाँ ये ही भयंकर दृश्य दिखलाने को आये थे।
इन्हीं बातों से मेरा चित्त बहलाने को लाये थे ?
यहाँ जब एक प्राणी दूसरे प्राणी का भक्षक है,
तो क्यों कहते हैं हम, 'भगवान सब जीवों का रक्षक है' ?

(सोचते हुये, घबड़ा कर) ओह ! कैसी उलझन है ! कैसा

अशान्ति है! शंका पर शंका बढ़ती जाती है, बड़ी ही भ्रान्ति है। मित्रो! ठहरो!" थोड़ी देर के लिये मुझको क्षमा करो। मैं इस विषय पर एकान्त में कुछ विचार करना चाहता हूँ।

[एक हाथ से मस्तक को थामकर और दूसरे से वृक्ष का सहारा लेकर, सोचते हैं]

पहला मित्र—(सहज में) हम तो इन्हें यहाँ मनोरञ्जन के लिये लाये थे।

दूसरा मित्र—(धीरे से) और वह भी, कुछ अपनी इच्छा से नहीं; बल्कि महाराज की आज्ञानुसार आये थे।

तीसरा मित्र—(धीरे से) हाँ भाई! यह कौन जानता था, कि इसका इनके चित्त पर उलटा प्रभाव पड़ेगा।

चौथा मित्र—अच्छा, तो आओ, इन्हें विचार करने दो!

[चारों मित्र दूसरी ओर को जाकर टहलने लगते हैं। अचानक, एक बाण से बिंधा हुआ हंस आकाश से गिरता है]

चारों मित्र—(एक स्वर से) हिंसा! हिंसा!! पाप! पाप!!

सिद्धार्थ—(अपने दिवास्वप्न से सहसा जागृत होकर, हंस को उठाने के लिये शीघ्रता से लपकते हुये) खेद! खेद!! सन्ताप! सन्ताप!! हा! इस निर्दयी संसार का कितना कठोर व्यवहार है; कैसा तीक्ष्ण बाण मारा है! (हंस को पुचकार कर उठाते हुए) भला इसने किसी का क्या बिगाड़ा है? (सिद्धार्थ की गोद में हंस कुल-बुलाता है) हाय! हाय!! कैसा व्याकुल हो रहा है। (हंस से) न घबरा! न घबरा!! निर्दोष पक्षी, तू इन हाथों पर भरोसा रख; इनसे तेरी सेवा ही होगी, निर्दयता कभी न होगी।

पहला मित्र—(घृणा से) छोड़ दीजिये, युवराज ! इसे यों-ही छोड़ दीजिये; इसके रक्त से आपके वस्त्र अपवित्र हो जायँगे ।

सिद्धार्थ—रहने दो ! रहने दो !! तुम अपनी पवित्रता अपने हृदय ही में रहने दो—

पराये दुःख का कोई कभी कुछ ध्यान करता है ?
किसी की वेदना-पीड़ा की कोई कान करता है ?
कोई निज जाति का, कुल, वर्ण का अभिमान करता है ,
अछूतों के न छूने का कोई निर्माण करता है ।
न कोई पुण्य करता है, न कोई दान करता है ,
जिसे देखो वह अपने मान का सम्मान करता है ।

(मृदुता और सावधानी से हंस के शरीर से तीर निकाल कर अपनी अगुली में चुभाते हुये) मैं देखूँ, इस बाण के चुभने से मेरे शरीर में भी पीड़ा होती है या नहीं ।

पहला मित्र—(सहसा घबड़ाकर) क्या करते हैं, राजकुमार ? आप यह क्या करते हैं ? कहाँ आप का कोमल शरीर और कहाँ यह बज्र-सा तीर !

सिद्धार्थ—(तीर चुभने पर) ओह, बड़ा ही दुख होता है, बड़ी ही पीड़ा है ।

दूसरा मित्र—(चौंककर) एँ, क्या रुधिर निकलने लगा ?

पहला मित्र—(खेद से) मैं तो पहले ही कहता था ।

तीसरा मित्र—यह लीजिये (झटपट, जेब से कपड़ा निकाल कर) इस पर यह कपड़ा बाँध दीजिये ।

सिद्धार्थ—नहीं, नहीं, तुम मेरी इतनी चिन्ता न करो। शोचनीय तो इस पक्षी की दशा है; मेरी अँगुली में तो यह बाण सूक्ष्म-सा ही चुभा है। (दूसरी ओर से देवदत्त का प्रवेश)

देवदत्त—(घबड़ाया हुआ) यहाँ मेरा आखेट आकर गिरा है ? (हंस को सिद्धार्थ की गोद में रख कर) हाँ, यही है, यही है ! लाओ (सिद्धार्थ से) भाई ! इसे मुझे दिलवाओ।

सिद्धार्थ—(हंस को हृदय से लगा कर) दया करो, देवदत्त ! इस निर्दोष पक्षी पर दया करो; इसे मेरे ही पास रहने दो; यह मेरी उन सहस्र वस्तुओं में से पहली वस्तु है, जो दया के भाव और प्रेम की शक्ति से मेरी हो जायँगी।

देवदत्त—नहीं, यह मेरा आखेट है, मेरे बाण से घायल हुआ है; इस पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं।

सिद्धार्थ—मेरा न सही, इस पर दया का तो अधिकार है; प्रेम का तो प्यार है। भाई ! यह तुम्हारी करुणा का भूखा है। देखो ! जीवन की आशा और मृत्यु के भय से इसके प्राण द्विविधा में पड़े हुए हैं।

देवदत्त—कुमार, जब तुम एक घायल हंस को देख कर बालक के समान आँसू बहाते हो, तो रण-भूमि में चमकती हुई कृपाण, सरसराते हुये बाण, मित्र और शत्रुओं को लोहू-लुहान, देख कर अवश्य मूर्छित हो जाओगे !

सिद्धार्थ—यदि किसी निरपराध और आशा-पूर्ण जीवन को समाप्तकर देने ही में क्षत्रियत्व है, तो मैं एक उच्च क्षत्रिय-वंश की

अपेक्षा केवल शाक-पात आदि का भोजन करने वाले किसी नीच कुल में जन्म ग्रहण करना उत्तम समझता हूँ। हा! स्वप्न-वत् सम्पत्ति और पानी के बुलबुले-जैसी कीर्त्ति के लिये रक्त-धारा बहाना, सैकड़ों अबलाओं को विधवा बनाना, उस पर इस क्षण-भंगुर जगत के एक छोटे-से कोने का चक्रवर्ती कहाना! नश्वर मनुष्य! तू स्वार्थ का पुतला है।

स्वयं काँटे के चुभने से तो हा हा कार करता है।
पॅ एक निर्दोष पर बाणों की मारा मार करता है॥
तू जिह्वा-वश जो जीवों पर यह अत्याचार करता है।
बड़े अन्याय का, ओ निर्दयी, व्यवहार करता है॥

देवदत्त—मैं समझ गया, तुम युवराज-पद का घमण्ड दिखलाते हो; हंस देना नहीं चाहते! अच्छा न दो (भृकुटी बदलकर जाता हुआ) देखा जायगा अब इसका न्याय राज-सभा से कराया जायगा।

[देवदत्त जाता है, सिद्धार्थ के मित्र उसकी ओर हाथ उठाकर हँसते हैं। सब जाते हैं]

पहला अंक

तीसरा दृश्य

राज-भवन का आँगन

[राजा शुद्धोदन, प्रधान, मंत्री आदि सहित आते हैं]

महाराज—इस उत्सव से आप लोगों को कुछ कार्य-सिद्धि की आशा है ?

प्रधान—क्यों नहीं ! महानुभाव को युक्ति का पासा सदैव पौ-बारह ही लाता है ।

महाराज—महल्लक ! क्या तुम भी इस उत्सव में सम्मिलित थे ?

महल्लक—श्रीमान् ! मैं अदृश्य पुरुषों में नियत किया गया था ।

महाराज—देश के बड़े-बड़े क्षत्रियों की कन्याएँ तो सभी आई होंगी ?

महल्लक—सभी उपस्थित थीं, महाराज !

महाराज—तब तो बड़ी चहल-पहल रही होगी ?

महल्लक—चहल-पहल ! क्या कहूँ, पृथ्वीनाथ ? भद्रासन पर बैठकर कुमार ने जिस समय कन्याओं को पारितोषिक देना प्रारम्भ किया, वह एक अद्भुत, अनुपम ही दृश्य था।

महाराज—कुछ तो सुनाओ, महल्लक ! कुछ तो सुनाओ ! जिस बात के देखने से तुम्हे अपनी सफलता का निश्चय हुआ है, उसके सुनने की थोड़ी-सी मुझे भी उत्कंठा है।

महल्लक—कृपानिधे ! जब उन नवेली अलबेली कन्याओं में से कोई चन्द्र-वदनी, इठलाती, मुसकाती, कोई मृग-नयनी लजाती, हिचकिचाती, अपनी पंक्ति से निकलकर, पारितोषिक, लेने के लिये, राजकुमार के सम्मुख, आती थी, उस समय, मानो, बिजली सी चमक जाती थी।

महाराज—हाँ ! कुमार कन्याओं पर कुछ प्रेम-दृष्टि भी डालता था ?

महल्लक—बड़े ही प्रेम और पवित्र भाव से देखते थे और हरएक को एक-एक स्वर्ण-पात्र उठा-उठा कर दे देते थे।

महाराज—उनमें से किसी ने सिद्धार्थ के हृदय पर अधिकार नहीं पाया ?

महल्लक—नहीं ! पाया ! जब हमें निराशा ने आ दबाया, तो

सब से अन्त में, दंडपाणि की कुमारी, गोपा, ने आ कर हमारे राजकुमार को वैराग्य-निद्रा से चौका दिया। उस समय उनके भाव और चाव से प्रतीत होता था कि आज कुमार ने कभी की खोई हुई कोई अमूल्य संपत्ति पाई है। एक की दूसरे की ओर टकटकी लगी हुई थी, नेत्र अचल थे। इन्हीं बातों से हमने समझ लिया कि अब यह भौरा कुसुम-कली को छोड़ कर वन-वृक्षों की ओर जाने वाला नहीं।

प्रधान—स्मरण कीजिये दयानिधान! मैं कहता न था कि जिस गंभीर-से-गंभीर विचार को लोहे की शृंखलाएँ नहीं रोक सकतीं, उसे एक मनोरमा युवती की अलकें सहज ही में जकड़ लेती हैं—

उसी समय तक चौकड़ी भरता है मृग घूर,
जब तक वाण शरीर से रहता है कुछ दूर।

महाराज—क्यों नही प्रधान! तुम्हारा अनुमान क्या कुछ ऐसा-वैसा है! तुम बड़े अनुभवी और बुद्धिमान हो; परन्तु मैं अपने अट्ठारह वर्ष के अनुभव को तुम्हारे एक क्षणिक, किन्तु आशाजनक, दृश्य पर बलिदान नहीं कर सकता।

प्रधान—निस्संदेह! दूध का जला छाछ फूँक-फूँक कर पीता है। ऐसी अवस्था में विश्वास हुआ ही नहीं करता; कारण कि मनुष्य के समुद्र-समान मन में सदैव संकल्प-विकल्प की तरंगें उठती रहती हैं, जिसमें मूर्ख और अज्ञानी चंचलता-रूपी पवन के थपेड़े खा-खा कर डूब मरते हैं; किन्तु बुद्धिमान और ज्ञानी स्थिरता की नौका से उसे पार करते हैं।

महाराज—(सोचकर) तो फिर इस प्रेम-पाश में ग्रंथि लगाने का क्या उपाय सोचा है ?

प्रधान—दंडपाणि के यहाँ पुरोहितजी को भेजा है ।

महाराज—किस प्रयोजन से ?

प्रधान—यही, कि कपिलवस्तु के युवराज से वह अपनी कन्या का पाणि-ग्रहण करादे ।

महाराज—यदि उसने स्वीकार न किया ?

प्रधान—तो हम बल-पूर्वक स्वीकार करायेंगे ।

[हंस को काँख में दबाए हुए सिद्धार्थ का देवदत्त-सहित प्रवेश]

सिद्धार्थ—पूज्य पिताजी ! प्रणाम ।

देवदत्त—माननीय पितृव्य ! प्रणाम ।

महाराज—आयुष्मान् ! आयुष्मान् ! कहो, बेटा, आज राज-सभा को कैसे शोभा दी ?

सिद्धार्थ—एक परस्पर का विवाद मिटाने, और उसका निर्णय कराने के लिये हम दोनों उपस्थित हुए हैं ।

महाराज—यों तो जहाँ दो बरतन होते हैं, वहीं खनकते हैं ; परन्तु तुमसे सुशील से और विवाद से क्या प्रयोजन ?

देवदत्त—(मुँह बनाकर) लड़कपन !

महाराज—किस बात पर झगड़ा है ?

देवदत्त— (संकेत से) इस हंस पर, जिसे युवराज ने अपनी काँख में दबा रखा है ।

महाराज—वास्तव में यह पक्षी किसका है ?

सिद्धार्थ—उसका ! जिसका यह सारा विस्तार है, सब में चमत्कार है ।

देवदत्त—नहीं, इसे मैंने बाण मारकर आकाश से पृथ्वी पर गिराया है ।

सिद्धार्थ—और मैंने इस घायल हंस को पृथ्वी से उठाया है ।

देवदत्त—तुमने मेरे आखेट को किस अधिकार से उठाया ?

सिद्धार्थ—और तुमने ही इस स्वच्छन्द उड़ते हुए पक्षी पर कैसे बाण चलाया ?

देवदत्त—यह तो क्षत्रिय का धर्म है ।

सिद्धार्थ—क्षत्री का धर्म है, या वधिक का कर्म है ? जब क्षत्री ही निरपराधियों पर बाण चलायेगा (हंस को पुचकार कर) तो दुखियों को रक्षा करने वाला कौन कहलायेगा ? (खेद से) हा ! क्षत्री शब्द का यह अर्थ, अनर्थ ! आर्य वीरों का यह विचार, धिक्कार !—

> वर्ण क्षत्री का बना है जीव खाने के लिये ?
> याकि अपने देश को दुख से बचाने के लिये ?
> जिस जगह रहते हों क्षत्री उसकी हो यह दुर्दशा,
> ऐसे जीवन से तो जल में डूब मरना है भला !

देवदत्त—तुम्हें किसी के परिश्रम का ध्यान नहीं ?

सिद्धार्थ—मुझे तो है ; परन्तु तुम्हे इसका ज्ञान नहीं । सोचो, किसी वस्तु के बनाने में परिश्रम होता है या उसके मिटाने में ?

देवदत्त—अच्छा ! अब इस विषय पर विशेष तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं ; राज-समाज जो निर्णय करेगा, दोनों को वही मानना पड़ेगा ।

महाराज—प्रधानजी ! क्या विचार है ?

प्रधान—मेरा विचार तो राजकुमार के अनुकूल है ।

मन्त्री—ठहरिये ! न्याय कार्य में शीघ्रता करना बड़ी भूल है । राजकुमार का पक्ष लेने पर आज से अहेर रोकना पड़ेगा ; क्षत्री जाति में कोलाहल मचेगा ।

प्रधान—नहीं, राजकुमार का पक्ष प्रबल है ; प्राण-हीन होने पर, तो यह हंस कुमार देवदत्त का ही आखेट कहलाता, निश्चय उन्हीं को दिलाया भी जाता ; किन्तु जब यह शरीर जीवधारी है, तो यह स्वतंत्र है ; फिर इसका कौन अधिकारी है ?

आकाश-वाणी—यदि जीवन कोई अमूल्य और प्रिय वस्तु है (सब चकित हो कर सुनते हैं)तो जीवधारी शरीर पर, जीव नाश करने वाले की अपेक्षा, उसकी रक्षा करने वाले का अधिकार अधिक है ; इसलिए, निष्पक्ष हो, यह पक्षी उसके पालन करने वाले को देदा ।

सब सभासद—(एक स्वर से) देदो ! देदो !! यह हंस युवराज ही को देदो !!!

सिद्धार्थ—(हंस से) जा ! उड़ जा ! तू हिमालय के शिखर पर काले-काले बादलों में उड़ता हुआ, और मानसरोवर की नीली-नीली लहरों में तैरता हुआ ही भला लगेगा ! इसलिए

जा ! अपने साथियों के साथ क्रीड़ा करता हुआ स्वतंत्रता से जीवन बिता ! (हंस उड़जाता है)—

जग में स्वतंत्रता ही तो एक सुख की खान है ।
छोटे से छोटे कीट को भी इसका ध्यान है ॥
जिसको स्वतंत्रता नहीं है, दुख महान है ।
आधीनता में जीना नरक के समान है ॥
जब तू ही न हो पास, तो, प्यारी स्वतंत्रता ।
हैं तुच्छ जग की वस्तुएँ सारी, स्वतंत्रता ॥

प्रधान—(नेपथ्य की ओर देखकर) यह लीजिये ! पुरोहितजी भी आ गये ।

महाराज—(प्रसन्न होकर) अच्छा ! आ गये !

महल्लक—आज क्यों न आते, आज तो प्राप्ति का दिन है !

प्रधान—प्राप्ति !

महल्लक—(प्रसन्नता से) हाँ, आज युवराज की अट्ठारहवीं वर्ष-गाँठ का दिन है न !

प्रधान—अच्छा ! आज युवराज की वर्ष-गाँठ है !

[पुरोहित आता है]

महाराज—(पुरोहित से) क्या, आही गये महाराज ?

पुरोहित—अन्नदाता को आशीर्वाद !

महाराज—तुम तो दंडपाणि के यहाँ गये थे ?

पुरोहित—(कुछ-सकोच से) गया तो—था ।

महल्लक—परन्तु कुछ सेवा-सुश्रूषा नहीं हुई ?

पुरोहित—नहीं कैसे होती! ब्रह्मा ने ब्राह्मण को बनाया ही इस लिये है।

महाराज—तो क्या, कार्य सिद्ध नहीं हुआ?

पुरोहित—(कुछ सकोच से) नही! कार्य की तो कोई ऐसी बात नहीं।

प्रधान—तो फिर और क्या बात है?

पुरोहित—हाँ! बात भी कुछ नहीं।

महल्लक—हैं! बात भी कुछ नहीं? तो गये थे क्या झक मारने?

पुरोहित—और क्या! अब तो झक मारना ही समझिये।

प्रधान—क्या कुछ विरुद्ध बोला?

पुरोहित—विरुद्ध तो नहीं! परन्तु हाँ...कुछ...

महल्लक—'परन्तु'..'हाँ'...'कुछ'...इसका क्या आशय? स्पष्ट कहिये न, महाशय!

पुरोहित—(खखार-मठार कर) अच्छा, स्पष्ट? स्पष्ट तो उसने यही कहा (सिर खुजाते हुए) कि वह...जो है, सो...

महाराज—अहा हा हा! कितना स्पष्ट है!!

महल्लक—पुरोहितजी! बात कहते-कहते क्यों चबा जाते हो? प्रत्येक पक्ति का पिछला चरण खाजाते हो।

पुरोहित—(हठात् क्रोध से) कौन? मै! मैं चरण खा जाता हूँ? मूर्ख कहीं के, जानते नहीं, हम समाज का सिर कहलाते हैं; ब्राह्मण सिर होते हुए कहीं चरण खाते हैं?

प्रधान—(महल्लक से) इन्हे तो छेड़ना ही पाप है ; ये तनिक-सी बात पर चिढ़ जाते हैं।

महल्लक—चिढ़ क्या जाते हैं, बकते-बकते मनुष्य का सिर खा जाते हैं।

पुरोहित—(अत्यन्त क्रुद्ध होकर) मनुष्य का सिर ! नारायण ! नारायण !! यजमान, हमारा वशिष्ठ गोत्र है ; हम वशिष्ठ-स्मृति के मानने वाले हैं—'श्रोत्रियायाभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं महाजं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः'—बताइये इसमें मनुष्य के लिये कहाँ आज्ञा है ?

महाराज—पुरोहितजी ! हास-परिहास में ही उड़ाओगे, या कोई ठीक बात भी बताओगे ?

पुरोहित—(कुछ शांत होकर) क्यों नहीं बताऊँगा, अन्नदाता ! परन्तु उसने कुछ ऐसे शब्दो में उत्तर दिया है, जो मुझसे कहा नहीं जाता।

प्रधान—हाँ, हाँ ! वही सुनना चाहते हैं, उसने ऐसा क्या कहा है ?

पुरोहित—उसने यही कहा कि 'तुम्हारा राजकुमार बड़े लाड़-प्यार से पला है ; सुनते हैं अभी तक भवन से बाहर नहीं निकला है ; क्या क्षत्री-कुमारो की यही शोभा है ? जिस जाति में रघु और पुरु जैसे महावीरों ने जन्म लिया, जिस वर्ण ने भीष्म, कर्ण-से महारथियों को उत्पन्न किया ; अभिमन्यु-से बालक ने चक्रव्यूह में अकेले जाकर जिस वंश का मान बढ़ाया,

अब उसका ऐसा कुसमय आया ! जिन क्षत्री-सिंहों की दहाड़ से भूकम्प आता था, जिनकी गरज से ब्रह्मांड हिल जाता था, उनकी संतान का ऐसा ध्यान ? हा भगवन् ! वन और रण-भूमि की जगह पुरुष, स्त्रियों की भाँति, भवन की शोभा बन गये, तेजस्वी वीरों के चलन गए ! पुरोहित जी ! जब क्षत्री ही इस प्रकार जीवन बिताने लगेंगे, तो समझ लेना, भारत में विदेशी अधिकार जमाने लगेंगे। इसलिये मेरी कन्या यशोधरा को वही क्षत्री वरेगा, जो स्वयंवर की परीक्षा में पूरा उतरेगा।'

मन्त्री—ओ हो ! दंडपाणि, इतना अभिमानी ! ऐसा कठोर उत्तर ! ऐसी अप्रिय वाणी !

सिद्धार्थ—(ससंकोच, विनीत भाव से) मंत्रीजी ! उनका ऐसा कहना कुछ अनुचित नहीं है, वह कन्या के पिता हैं, पुत्री के सुख-दुख का विचार यदि पिता ही को न होगा, तो और किसे होगा ? (ठंडी साँस लेकर) हा ! कदाच् स्त्री अबला न होती !

पुरोहित—तो वह पुरुष के सिर पर पाँव धर कर चलती।

सिद्धार्थ—और अब ?

पुरोहित—अब पुरुष स्त्री के........

सिद्धार्थ—रहने दो ! रहने दो !! यदि इन घृणित शब्दों को मुँह से निकालते हुए पुरुषों को लज्जा नहीं आती, जिह्वा नहीं तुतलाती; यदि वह अपने पूर्वजों की भूल और त्रुटियों को छिपाना भी नहीं चाहते, तो आगामी संतान की सदाचार-रक्षा के विचार से, तो उन्हें ऐसा कहना उचित नहीं। सोचो ! यह

किसके लिये कह रहे हो ? स्त्री के लिये ! उस स्त्री के लिये, जो अपने जन्मस्थान, माता-पिता, बहन-भाई, अपनी सखी-सहेलियो को त्याग कर, पुरुष के पीछे-पीछे हो लेती है, जो अपना हृदय, सुख, स्वतंत्रता, सब कुछ पुरुष के चरणों में अर्पण कर देती है, जो यह भी नहीं सोचती कि इसका बदला मुझे क्या मिलेगा; उसी स्त्री के लिये न ? जो अपना सर्वस्व बलिदान कर देने पर भी छाती में लात की मार सहती है, और फिर भी अपने आप को पुरुष की दासी ही कहती है ? पति पत्नी को त्याग देता है, परन्तु पत्नी पति को नहीं छोड़ सकती। पुरुष एक स्त्री के होते हुए दूसरी से विवाह कर लेता है; किन्तु स्त्री दुखिया पुरुष-विहीना होने पर भी कोई और सुखदायक आश्रय नहीं ढूँढ़ सकती।

पुरोहित—राजकुमार! हमारी सभ्यता के अनुसार स्त्री की शूद्र संज्ञा है, उसका जन्म केवल सेवा, स्नेह और भक्ति करने के लिये ही हुआ है। 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयताम्' यह कुछ आज का विधान नहीं है, सनातन से चला आ रहा है—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥

सिद्धार्थ—मैं भी इन बातों को जानता हूँ, कारण कि इसी सभ्यता में पला हूँ; किन्तु क्या कहूँ मेरे चित्त की वृत्ति ही विचित्र है। दया और प्रेम से शून्य मुझे किसी भी देश की सभ्यता, किसी भी समाज का विधान नहीं भाता। यह तो मैं

पहले ही कह चुका हूँ कि स्त्री का हृदय बहुत कुछ सह लेता है, परन्तु उसका भी तो अंत है—कोई सीमा है !

प्रधान—धन्य है ! धन्य है ! कुमार ! मैं आपके उदार हृदय और पवित्र भावों को आदर-पूर्वक सराहता हूँ । निस्संदेह ! स्वार्थ-परायणता के (पुरोहितजी की ओर देखकर) पुजारियों ने स्त्री और शूद्र जाति को दबाते-दबाते पशु-श्रेणी तक ला डाला है ; किन्तु प्राचीन आर्य-सभ्यता ने दोनों को समान अधिकार दिया है ।

सिद्धार्थ—तब तो दंडपाणि का स्वयंवर रचना कोई अभि-मान-सूचक बात नहीं ।

महल्लक—कौन कहता है ? बल्कि मेरी तो यह इच्छा है कि उस उत्सव को आप भी सुशोभित करें, तो बहुत ही अच्छा है ।

सिद्धार्थ—हाँ ! मैं जाऊँगा । पहले न भी जाता ; पर अब तो कन्या-पक्ष को यह निश्चय कराने के लिये अवश्य जाऊँगा कि एकान्तवास विद्योपार्जन और कला-कौशल की प्राप्ति में बाधक नहीं होता ।

[द्वारपाल आकर पुरोहितजी से कुछ कहकर चला जाता है]

महाराज—प्रधानजी ! यदि कुमार स्वयंवर में सम्मिलित होना चाहते हैं, तो आप लोगों को यथोचित प्रबन्ध का ध्यान रखना चाहिये ।

प्रधान—जो आज्ञा !

पुरोहित—श्रीमान् अब सभा विसर्जन कीजिये ; युवराज की वर्ष-गाँठ के उत्सव मनाने का लग्न आ रहा है, देव-पूजा के लिये अंतःपुर में राज्य-लक्ष्मी प्रतीक्षा कर रही हैं ।

महाराज—(खड़े होकर) अच्छा चलिये ।

[सब जाते हैं]

पहला अंक

चौथा दृश्य

जंगल में शिवालय

[साधु के वेष में पाखण्ड, पुजारी के वेष में स्वार्थ, और साधुनी के वेष में हिंसा—तीनों खड़े हुए बातें कर रहे हैं]

स्वार्थ—बहुत बचे ! बाल-बाल बचे !! नहीं, उस दिन तो काल के गाल में आही गये थे ।

पाखण्ड—इसमें संशय ही क्या है ! शूलपाणि के त्रिशूल से प्राण बचाकर भाग जाने ही में वीरता है ।

हिंसा—भागने में वीरता न होती, तो जरासंध के आगे से कृष्ण ही क्यों भागते ?

स्वार्थ—बहन तुम्हारा-सा साहस कोई कहाँ से लाये ?

हिंसा—भैया ! मैं तो तुम्हीं लोगों के लिये मरती हूँ, जो

कुछ करती हूँ, सब तुम्हारी ही प्रेरणा से करती हूँ।

पाखण्ड—यह तो है ही; मनुष्य के हृदय में पहले स्वार्थ ही वास करता है।

स्वार्थ—परन्तु स्वार्थ को अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये पाखण्ड का आश्रय लेना पड़ता है।

हिंसा—(भोलेपन से) और जब पाखण्ड से काम नहीं चलता, तो इस अबला हिंसा को आगे कर देता है।

पाखण्ड—बहन! तुम्हारे अबलापन पर तो मुझे भी दया आती है।

हिंसा—(मचला कर) भैया! तुम मेरे आगे 'दया' का नाम न लिया करो, (दोनों भुजाओं से अपनी छाती भींचकर) इससे मेरी छाती दहल जाती है।

पाखण्ड—(आँख मारकर) सच कहती हो! मेरा भी कलेजा धड़कने लगता है।

स्वार्थ—(लम्बी साँस लेकर) हये! हये! पृथ्वी पर कैसे-कैसे कोमल हृदय हैं।

पाखण्ड—उस पापिनी की तो बोधिसत्व बड़ी ही रक्षा करते हैं।

हिंसा—उनका तो जन्म ही इसी निमित्त हुआ है।

स्वार्थ—हुआ करे! जगदुत्पत्ति से, आजतक तो, किसी से हमारा बाल बाँका हुआ नहीं, यह दो दिन का बालक कर ही क्या सकता है?

हिंसा—मैं इसे नहीं मानती। कल-परसों ही की बात है, मेरी प्रेरणा से देवदत्त ने एक हंस का आखेट किया; परन्तु उसी पिशाचिनी ने बोधिसत्व की सहायता से उसे बचा लिया।

स्वार्थ—बचा लिया तो क्या हुआ! इसी बात पर तो मैंने ईर्ष्या से प्रभाव डलवाकर देवदत्त को सदैव के लिये सिद्धार्थ का विरोधी बना दिया।

हिंसा—विरोधी बना दिया? बहुत ही अच्छा किया! बहुत ही अच्छा किया! परन्तु यह तो बताओ, तुम लोगों ने आजकल जो इस पुराने उजड़े हुए शिवालय का अपना अड्डा बनाया है, इसमें क्या प्रयोजन सोचा है?

स्वार्थ—चक्र-पूजन के लिये ऐसे ही स्थान की आवश्यकता है। कोई भक्त आकर भंग घोटता है और कोई गाँजा पीता है।

पाखण्ड—कोई फल-फलहरी लाता है, कोई मिष्टान्न खिलवाता है, दुपहरी-तिपहरी में जुए का भी एक-आध दाव लगा जाता है।

हिंसा—क्यों नहीं! शिवालयों और मन्दिरों की तो इन्हीं बातों से शोभा है। भला स्वार्थ तो यहाँ पुजारी बन कर बैठे हैं; किन्तु पाखण्ड, तुम यहाँ साधु बने हुए क्या करते हो?

पाखण्ड—शिव-पूजा का चढ़ावा ब्राह्मण नहीं खाते, उसे साधु (मोंछों पर ताव देकर) ही सँगवाते हैं।

हिंसा—ओह हो! साधु तो ब्राह्मणों के भी गुरु निकले!

पाखण्ड—और चेले कब थे?—

मूँड मुँडाये तीन गुन, मिटै सीस की खाज।
खाने को मोदक मिलैं, लोग कहैं महाराज॥

इससे अच्छा कर्त्तव्य, इससे अच्छा व्यवसाय संसार में कोई दिखाई नहीं देता। धेले के गेरू में धोती रँगाई और पारस की पथरी हाथ आई। बड़े-बड़े सेठ, बड़े बड़े व्यापारी, दिन-भर चोटी से एड़ी तक पसीना बहाते हैं, सोते-सोते भी इसी ध्यान में बड़बड़ाते हैं, तब कुछ लाभ उठाते हैं। व्यापार में धन तो अवश्य मिलता है; किन्तु दिवाला भी झट ही निकलता है।

हिंसा—और खेती करना?

पाखण्ड—खेती करना तो जीते-जी मरना है। जेठ-असाढ़ की धूप में हल चलाना, ईख नलाना, और पूस माह के जाड़े में पानी के बोके लगाना। अब, इधर वर्षा न हुई तो वैसे प्राण सूखे; और उधर पड़ गये ओले, तो मरे भूखे! नौकरी चाकरी की ओर ध्यान लगाओ, तो नित्य स्वामी की गालियाँ खाओ, अपमान कराओ, जूआ खेलो तो पहले घर को मात्रा लगाओ ठिकाने, दाव आया तो पौ बारह, नहीं तो वही तीन काने। चोरी करो तो कारागार की हवा खाओ। सार यह है कि ऐसा नहीं कोई लटका, जिसमें किसी बात का न हो खटका; परन्तु वाह री रँगी हुई कोपीन! सब कुछ है तेरे आधीन! हल्दी लगै न फिटकरी, रंगत आवे सबसे खरी!

हिंसा—अब तो धीरे-धीरे इस ढोल की पोल भी खुलती

जाती है ; विद्या-रूपी समुद्र के झकोलों से यह बालू की भीत भी घुलती जाती है।

पाखण्ड— तो भी क्या है ? अभी युग चाहिए युग ; पुरखाओं ने इस वेश की ऐसी महिमा रख दी है कि काषाय वस्त्र देखकर, स्त्री-पुरुष सब को ही माथा नवाते बनता है।

हिंसा—क्यों नहीं ! यह तो वेश ही ऐसा है।

स्वार्थ—सावधान ! देखो तो, कोई आ रहा है ?

पाखण्ड—(नेपथ्य की ओर देख कर) अरे ! यह तो वही है चंडूल, जिसकी आँख में उस दिन डाली थी धूल। (स्वार्थ से) लो स्वार्थ ! अब तुम पुजारी बनकर शिवालय में जा बैठो, और बहन (हिंसा से) हिंसा ! थोड़ी देर के लिए तुम भी कहीं इधर-उधर को हो जाओ। [स्वार्थ और हिंसा जाते हैं, साधु एक ओर को मृगछाला बिछा, कमण्डल और चिमटा आगे रख, बैठ जाता है] (स्वगत) हरि ओ३म् तत्सत्, हरि ओ३म् तत्सत् !!

[हाथ में मिठाई का दोना लिए हुए धनपति आता है]

धनपति—(एक ओर को मिठाई का दोना रखकर, दडवत होकर) दंडौत, महात्मा ! दंडौत ; धन्य है ! आप तो साक्षात् भगवान् हैं, ऋद्धि-सिद्धि की खान हैं। (पाँव पकड़ता है)

साधु—परे हट ! परे हट !! अरे तू कौन है ? मेरे पाँव से न लिपट।

धनपति—कृपालो ! अब मैं इन चरणों को नहीं छोड़ सकता। जन्म-भर अनेक साधु-संतों की सेवा की ; परन्तु यह बात आज

तक देखने में न आई ; जब पाई, एकही आँच की कसर पाई !

साधु—(स्वगत) आई ! अब मछली जल में आई ! (प्रकट) भाई ! यह तेरी बूझ-पहेली मेरी समझ में नहीं आई । अरे ! कोई खिचड़ी थी या कढ़ी, जिसमें एक आँच की कसर पाई ?

धनपति—स्वामी ! तुम तो अन्तर्यामी हो ; मुझसे क्या पूछते हो ? गाँजे की चिलम में रखा जाय पैसा, और हो जाय कञ्चन ; यही तो हैं सिद्धि के लच्छन !

साधु—हरि ओ३म् तत्सत । अरे ! यह तो साधुओं के बायें हाथ का खेल है ; इसमें सिद्धि की क्या बात है ? यह तो जड़ी बूटियों का मेल है ।

धनपति—मैंने तो सारी कमाई इन जड़ी बूटियों में ही गँवाई ; परन्तु जब पाई, एक ही आँच की कसर पाई ।

साधु—(हँसकर) भैया ! इन जड़ी बूटियों को कोई विरला ही पहचानता है, मुक्ता का मोल मणि-बिक्रेता और राजा ही जानता है ।

धनपति—सत्य है, दाता ! सत्य है ! कुछ विधाता ही प्रसन्न हुआ, जो आपका दर्शन मिला ।

साधु—(मुसकाकर) हँ हँ हँ हँ ! अभी क्या देखा है ! साधु का अभी क्या देखा है !!

धनपति—भगवन् ! कोई आज्ञा कीजिये ; कुछ सेवा बताइये, यह थोड़ा-सा प्रसाद लाया हूँ, उसे ही पाइये ।

साधु—अरे बावले ! यह तो तू वृथा ही ले आया, हम क्या

कुछ खाते हैं ? कभी बहुत ही क्षुधा लगती है, तो सूक्ष्म-सा फला-हार कर लेते हैं ! परन्तु—इसे रक्खो, रक्खो ! (धनपति के हाथ से दोना लेकर अपने पास रख लेता है) हाँ, यह तो बताओ तुम कौन हो ? किस जाति के हो ? क्या नाम है ? क्या काम करते हो ? (आँख बचाकर दोने में से कुछ मिठाई उठाकर खा जाता है)

धनपति—मैं वैश्य हूँ, मेरा नाम धनपति है ; कुछ दिन हुए मेरे पिता इस नगर के एक प्रसिद्ध सेठ थे। आप जानते ही हैं कि यह माया तो धूप और छाया का-सा स्वभाव रखती है।

साधु—हरि ओ३म् तत्सत् ! तो यों कहो कि पिता ने धन कमाया और पुत्र ने उसे लुटाया।

धनपति—हाँ, महाराज ! बात तो कुछ ऐसी ही है, तो भी काम चले जाता है ; आपकी कृपा से भोजन मिले जाता है : किन्तु भगवन् ! मेरी एक इच्छा है कि जो कहीं रसायन बनानी आजाय, तो वह पिछला गढ़ा भर जाय।

साधु—हरि ओ३म् तत्सत ! भर जायगा, गढ़ा—भर जायगा ; परन्तु दही जमाने के लिये पहले जामन भी लगायगा ?

धनपति—दही जमाने के लिये जामन तो किसी घोसी ग्वाले के घर से आयगा।

साधु—अरे वाह रे लाला ! दही तुम खाओ और जामन लगाये ग्वाला ! भाई, यहाँ जामन लगाने का यह प्रयोजन है कि जितने ताँबे का सोना बनाना चाहो, उसकी चौथाई का सोना अपने पास से मिलाओ।

धनपति—ठीक है, ठीक है, महाराज ! ऐसा पहले भी सुनने में आया है।

साधु—यह तो देखो, वृक्ष कितने परिश्रम से लगाया जाता है, तब कहीं फल खाने में आता है।

धनपति—अच्छा तो कितना सोना लाऊँ ?

साधु—(बिगड़कर)जाओ-जाओ, वृथा सिर न दुखाओ ; एक बार बता दिया, जितना लगाओगे, उससे चौगुना पाओगे।

धनपति—अच्छा। चौगुना ! तब तो कुछ-न-कुछ यत्न करना ही पड़ेगा। (जाता है)

साधु—ससार में बिना युक्ति और हथकडे लड़ाये, कोई चाहे कि धन कमाये, यश-कीर्ति पाये—असम्भव है ! असम्भव !! (पुजारी को पुकारता हैं) पुजारीजी, अजी, पुजारीजी !

[नेपथ्य से—आया महाराज ! कहिये क्या आज्ञा है ?]

[पुजारी आता है]

साधु—अजी, एक भक्त यह मिष्टान्न रख गया है। इसे उठालो ; मन्दिर में लेजाकर भोग लगा लो।

पुजारी—(दोना उठाकर बैठ जाता है) स्वामीजी ! अभी कोई मोटी चिड़िया फन्दे में नहीं आई ?

साधु—नहीं कैसे आई ? उसी की तो है यह मिठाई !

पुजारी—(प्रसन्न होकर) क्या कोई आगया गाँठ का पूरा ?

साधु—गाँठ का पूरा और बुद्धि का अधूरा !

पुजारी—(मुग्ध होकर, अंग फड़काते हुए) ऐसा तो चाहिए ही महाराज ! ऐसा तो चाहिए ही !!

साधु—उसे रसायन बनाने की बड़ी धुन है।

पुजारी— (हर्ष से उछल कर) रसायन !! जय नारायन !!

साधु—सोना लेने गया है, सोना !

पुजारी—(चौंककर) सोना ! क्यों स्वामीजी ! सोना ?

साधु—हाँ, हाँ पुजारीजी ! सोना !! भला, यहाँ दो हाँडियाँ भी मिल जायँगी ?

पुजारी—दो ! चाहे जितनी लो ! नगर के लोग यहीं तो क्रिया-कर्म करने आते हैं ; जल-दान के लिये जो पीपल में बढ़िया लटकाते हैं, अन्त में सब यहीं छोड़ जाते हैं।

साधु—हरि ओ३म् तत्सत् ! पात्र भी सुपात्र हो रहेगा ?

पुजारी—अब आगे कहिये, क्या करियेगा ?

साधु—हाँ, जब वह स्वर्ण लेकर आयेगा, तो मैं उससे सोना और ताँबा एक हाँडी में रखवा कर, उसे कपड़मठ कराकर अग्नि में रखवा दूँगा।

पुजारी—बस ! बस ! मैं समझ गया ! जब वह हाँडी अग्नि में रखकर तुम्हारे पास आयेगा, तो सेवक उसे निकाल लायेगा।

(जाने के लिये खड़ा होता है)

साधु—(खड़े होकर) निकाल तो लाना; परन्तु उसकी जगह

वैसी ही दूसरी हाँडी आग में धर भी आना ; चतुराई को काम में लाना ; कोई चिन्ह भी न बिगाड़ना और विलम्ब भी न लगाना !

पुजारी—देखते जाना, महाराज ! देखते जाना !

साधु—हरि ओ३म् तत्सत् !

[दोनों जाते हैं]

पहला अंक

पाँचवाँ दृश्य

प्रमोद-कानन

[राजकुमार सिद्धार्थ पलंग पर लेटे हुए हैं, युवरानी गोपा उनके चरण दबा रही हैं; उनकी दासियों में से कोई पंखा झल रही है, कोई चँवर डोला रही है, कोई गन्धपात्र और कोई ताम्बूलाधार लिये खड़ी है]

पहली दासी—स्वामिनी ! बहुत समय हो लिया ; आप थक गई होंगी ; हमारे होते जो आप इस प्रकार सेवा का भार उठायेंगी, तो हम दासियाँ क्या मुँह दिखाने के काम आयेंगी ?

दूसरी दासी—कहीं शोभा में दिखाई जायँगी या किसी देवता की भेंट चढ़ाई जायँगी ?

तीसरी दासी—इन कोमल से कर कमलों से कुछ कोमल-सी सेवा लेतीं।
चौथी दासी—यह कर प्रियतम के गल होते या इनमें पुष्प लता लेतीं।
पहली दासी—या जपने को जगदीश्वर के इन में सुन्दर माला लेतीं।
दूसरी दासी—अभिलाषा है इस सेवा में दासी भी हाथ बटा लेतीं।

गोपा—पति की सेवा और भार, मेरी सखियों का ऐसा विचार! यह अमूल्य पदार्थ तो प्रारब्ध से मिलता है! तुम इसमें मेरा हाथ नहीं बटा सकतीं; इन पवित्र चरणों को हाथ नहीं लगा सकतीं—

यह चरण वह हैं कि जो ध्यान से दुख जाते हैं।
मन में आते हैं तो कुछ प्रेम के बस आते हैं॥

पहली दासी—धन्य हो, युवरानी! धन्य हो! रत्न समुद्र से ही निकलते हैं; ताल और पोखर में तो सिंघाड़े ही फलते हैं।

दूसरी दासी—भूमि पै आई हो निज धर्म सिखाने के लिये।
है चरित आपका आदर्श बनाने के लिये॥

गोपा—नहीं, मैं इतनी प्रशंसा के योग्य नहीं। मैं क्या और मेरा पातिव्रत धर्म क्या? धर्म-पुस्तकों में जहाँ स्त्रियों के कर्तव्य का बखान है, वहाँ उस महान् तप के सम्मुख मेरी सेवा एक तिनके के समान है। सुनो

आप तो रखती हो मन-मोहिनी छवि, नव यौवन;
और पति मन्दमति वृद्ध हो क्रोधी निर्धन।
अंग से हीन हो, रोगी हो, भयंकर-दर्शन;
उस अवस्था में करै धर्म का अपने पालन।
चाहिये ऐसी सती के पिये, धो-धो के चरन॥

चौथी दासी—निस्सन्देह ! ऐसी सती का धर्म अनुपम है; परन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध हुआ कि वह आप से उत्तम है? माना—इस जन्म में वह ऐसे पति की सेवा करती हुई सती कहला रही है, वास्तव में तो पूर्व जन्म के दुष्कर्मों ही का फल पा रही है।

गोपा—अच्छा अब अधिक न बोलो, कहीं मेरे इष्टदेव की नींद उचाट न हो जावे—

मुझ को संसार मे कुछ इनके सिवा सार नही ;
जीवनाधार हैं ये, और कुछ आधार नही।
तीर्थ मेरे लिये काशी या हरिद्वार नहीं ;
योग से, तप से, भी होता मेरा उद्धार नहीं।
देवताओं से अधिक इनके चरण हैं मुझको ;
वेद-मंत्रों से अधिक इनके वचन हैं मुझको।

सिद्धार्थ—(चौंककर) मेरे जगत ! मेरे ससार ! मैं सुनता हूँ !—मैं जानता हूँ !—मैं आता हूँ !

(भौचक्के से होकर आगे को बढ़ते चले जाते हैं, गोपा घबराकर उन्हें रोकती है)

गोपा—हैं, हैं, नाथ ! यह कैसी दशा है ? क्या कोई स्वप्न देखा है ?

किससे संकेत है यह जी की अवस्था क्या है ?
अपनी दासी से तो कहिये यह व्यवस्था क्या है ?

सिद्धार्थ— (सचेत होकर) कुछ नहीं ! कोई बात नहीं ! यों ही, सोते-सोते, हृदय पर हाथ पड़ जाने से जी घबरा गया ; न

जाने कहाँ का ध्यान आगया ! तुम इतनी व्यग्र न हो ; मैं अब अच्छा हूँ ; अपनी सखियों से कहो कोई मधुर गान सुनाएँ, कुछ नृत्य का भी चमत्कार दिखाएँ ।

गोपा—सखियो ! पति देवता की आज्ञा का पालन करो ?

[सखियाँ नाचती और गाती हैं]

गान

सखियाँ—छाई हरियाली, सुनो, आली, काली कोयलिया की तान ।

चारों सखी—कैसी उजियारी, अति प्यारी रजनी है ।

गोपा—यह तो प्रियतम की मुख-ज्योति, सजनी , है ॥

सखियाँ—हाँ, सजन-बदन सुमन समझ, भ्रमर करें गान—
छाई हरियाली......

चारों सखी—सरि सरिता जल से भरीं, कमलिनी खड़ी, करें शशि-ध्यान

गोपा—'पी-पी' पपीहा कहके, करे है, मेरे पी का आह्वान ।

सखियाँ—मलय-पवन बहे चारों ओर, बोलें मोर, सुमधुर-स्वर रसखान—
छाई हरियाली......

सिद्धार्थ—आ हा ! संगीत भी कैसी हृदयंगम कला है !

गोपा—निस्सन्देह, प्रियतम ! इसके मंत्र-भरे प्रभाव से कौन-सा सहृदय जीव बचा है ? (सखियों से) अच्छा सखियो ! समय अधिक हो गया है ; अब तुम भी जाओ, विश्राम करो ।

[सखियाँ जाती हैं]

सिद्धार्थ—(गोपा का हाथ अपने हाथ में लेकर, बड़े प्रेम से) प्रिये !

जब तक तुम्हारा मुख-चन्द्र नहीं देखा था, यह शोभामय जगत् मेरे लिये अन्धेरा था। सूर्योदय से मैं जामुन के पेड़ के नीचे बैठ कर इस सुन्दर संसार के व्यवहार पर विचार किया करता था—

शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन में हरी लताओं का हिलना
कुंज कुंज, अलि पुंज गुञ्ज, अरु कोमल कलियों का खिलना
पक्षीगण का गान, नाच मोरों का, हिरनों का फिरना
पूर्ण चन्द्र का हास्य, चमक चपला की, अरु घन का घिरना

इनमें से कोई भी मेरे हृदय का विकार नहीं खोता था; ऋतु, पक्ष, रात और दिन सब नीरसता से ही व्यतीत होता था; शून्य-ही-शून्य प्रतीत होता था।

गोपा—(घबराकर) तो क्या, प्राणपति! अब भी मन की वही गति है?

सिद्धार्थ—नहीं, सती, नहीं! तुम्हें हृदय दे देने से, यह जीवन निष्प्रयोजन दिखाई नहीं देता; अब समस्त संसार सार-सहित, सरस और सुखमय प्रतीत होता है। इन भ्रमर नेत्रों द्वारा तुम्हारे कमल-मुख का मधुपान करते ही मेरी आँखें खुल गईं; वह बातें जी से धुल गईं—

कुछ उस समय थी बुद्धि ही ऐसी बिसर गई।
आँधी सी थी विचार की, आई—उतर गई॥

गोपा—मेरे जीवन-आधार! जिस दिन दासी ने आप का दर्शन किया और कर-कमल से दिया हुआ प्रेम का हार पहना, उसी दिन से आपको अपने हृदय-आसन पर स्थान

दिया और अपने-आपको सनाथ मान लिया ; परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि—

> दयालु मुझपै जब ऐसे मेरे भगवान् रहते हैं।
> न जाने क्यों अँधेरे से में फिर भी प्रान रहते हैं ॥

सिद्धार्थ—देवी ! यों तो सारे ससार में ही घोर अन्धकार फैला हुआ है ; परन्तु जब मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरी हो, तो किस बात की चिन्ता है ? [गोपा के आँसू आजाते हैं।] यह क्या ? तुम्हारी आँखे क्यों डबडबा आई, कमल-दल पर ओस की बूँदों के समान, कपोलो पर आँसू कैसे ढलक रहे हैं ? यह मुख तो हँसता ही भला लगता है। एक तो गर्भ-भार के धारण करने से तुम्हारा चन्द्रानन प्रभात के शशि-मण्डल की भाँति वैसे ही मलिन रहता है, उस पर यह अनर्थ है कि तुम व्यर्थ को शंकाएँ उपजा-उपजा कर हृदय को कष्ट देती रहती हो।

गोपा—प्राणेश्वर ! जैसे चन्द्रमा के निकलने पर कुमुदिनी खिल जाती है, वैसे हो आपका सुन्दर मुख देख कर दासी भी सुख पाती है ; परन्तु इस समय आपके इस 'अन्धकार' के शब्द ने मेरा कलेजा हिला दिया, मुझे वह भयंकर स्वप्न याद दिला दिया, जिसे मैं कई रात से बराबर देख रही हूँ ; किन्तु आप की विश्वमोहिनी मूर्ति देखकर भूल जाती हूँ ; सवेरे उठकर मेरी भी वैसीही गति हो जाती है, जैसे चकवी दिन निकलने पर चकवे से मिलकर हर्षाती है।

सिद्धार्थ—यद्यपि स्त्रियों का हृदय कोमल होता है, वो

भी एक क्षत्राणी के लिए ऐसा भीरुपन शोभा नहीं देता।

गोपा—स्वामिन् ! मोह में मनुष्य बुद्धि से काम नहीं लेता।

सिद्धार्थ—माना ; तो भी स्वप्न से क्या घबराना ? न जाने रात्रि को मनुष्य कितने स्वप्न देखता है और दिन को कितने भूल जाता है। प्रिया ! यह तो केवल मन की कल्पनाओं का आकार है।

गोपा—हाँ, यह तो मेरी भी समझ में आता है, किन्तु फिर भी, न जाने क्यों, रह-रह कर उसी स्वप्न का ध्यान आ दबाता है।

सिद्धार्थ—इसी को तो अज्ञान कहते हैं।

[नेपथ्य से सगीत-ध्वनि सुनाई देती है]

फिरते हैं सुख की खोज मे दिन रैन, फिर भी मिलता नहीं किसीको चैन।
खींचा-तानी में सबका जीवन है, आपाधापी की सारी उलझन है।
मच रहा है जगत् में हाहाकार, रण-स्थल बन रहा है यह संसार।
कुछ भरोसा नहीं है प्रानी का, मानो एक बुलबुला है पानी का।
हम यहाँ पर कहाँ से आते हैं, लौट कर फिर किधर को जाते हैं।
किसलिए आना जाना रहता है, जीव क्यों ऐसे कष्ट सहता है।
जानना चाहते हैं हम यह भेद, पर समझते नहीं, यही है खेद।
है निज आनन्द में मनुष्य मगन, किन्तु पर दुःख का नहीं चिन्तन।

सिद्धार्थ—प्रिये ! सुनो, कैसा मधुर गान है ! यह गीत मैंने कहीं पहले भी सुना है। कौन गारहा है ? तुम्हारी सहेलियाँ तो नहीं हैं ?

गोपा—नहीं, नाथ ! मेरी सहेलियाँ नहीं, यह शब्द तो आकाश से आरहा है।

सिद्धार्थ—(जिधर से शब्द आरहा था, उधर को) कोकिल-बैनियो !

तुम कौन हो ? कहाँ से गारही हो ? आओ, मेरे समीप आओ, मुझे सम्मुख होकर गाना सुनाओ !

[नेपथ्य से फिर संगीत-ध्वनि होती है]

देव-बालायें आप की, भगवन्! करने आई हैं शान्ति-प्रद दर्शन ।
है विनय आप से सरोज-चरन, प्रणिधान अपना कीजिये स्मरन ।
कर रहा है प्रतीक्षा संसार, दीन दुखियो का कीजिये उद्धार ।
कर्म वश आके दुख के घेरे मे, ठोकरें खाते हैं अंधेरे में ।
लाखों ऐसे हैं दूर देशों में, जन्म भर जो रहे हैं क्लेशों में ।
नहीं अवसर विलम्ब करने का, है समय आपके विचरने का ।
प्रेम प्रेमी की प्रीति को छोड़ो, राज्य से, राजपुत्र, मुँह मोड़ो ।
उठो, माया के पुत्र, शीघ्र उठो, मोह माया का मन से त्याग करो ।

सिद्धार्थ—(लम्बी साँस लेकर) ओह ! मैं कहाँ हूँ ? क्या कर रहा हूँ ?

मार्ग बतलाने को आया था यहाँ, मैं खो गया ।
था जगाना काम मेरा, आप ही मैं सो गया ।
इस प्रमोदागार मे एक बार भी सोचा नहीं—
हाय ! जीवन का मेरे क्या लक्ष्य था, क्या होगया ।

इस राग ने मेरा इस समय का हर्ष शोक में बदल दिया । हृदय में दूसरा ही भाव उत्पन्न कर दिया । (गोपा से) मनोरमा, तुम मेरी अर्द्धांगिनी हो, सहधर्मिणी हो, धर्म में भी तो सहायता दो ; मुझे अन्धकार में ही न पड़ा रहने दो । मेरी आत्मा अब ब्रह्माण्ड भर में फैलना चाहती है ; इस छोटे से कानन में सुखी

नहीं रह सकती (नेपथ्य की ओर) द्वारपाल ! द्वारपाल !

[द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल—दीनदयाल !

सिद्धार्थ—जाओ, हमारे सारथी छन्दक को बुला लाओ।

द्वारपाल—जो आज्ञा। (द्वारपाल का प्रस्थान)

सिद्धार्थ—(गोपा से) सुवदने ! जीव दुःख के महासागर में डूब रहे हैं, मैं उन्हें इस अधम दशा में नहीं देख सकता, मन यही चाहता है कि पृथ्वी पर जो भी, जहाँ भी, है, उसे भ्रातृ-भाव से देखूँ, हृदय से लगाऊँ, पशु-पक्षी सब का ही दुख मिटाऊँ। सती ! स्वार्थ को भूलजाओ, इस महाव्रत में अपने पति का उत्साह बढ़ाओ।

गोपा—मेरे अर्थ और स्वार्थ सब आपही हैं, मैं आपकी अनुगामिनी दासी हूँ; आपके सुख में मेरा सुख है, और आपके दुख में मेरा दुख। मैं आपके शुभ कार्य में कैसे बाधा डाल सकती हूँ ? किन्तु, तनिक इस दासी की ओर भी निहारना; मुझ आश्रित के लात न मारना।

सिद्धार्थ—मेरी हृदय-अधिकारिणी ! तुम यह क्या कह रही हो ? मेरा मन जब उन प्राणियों के लिये अकुलाता है, जिनसे इस समय तक मेरा परिचय भी नहीं है, और उन दुःखो के लिये कष्ट उठाता है, जो मुझे भोगने भी नहीं पड़ते, तो तुम स्वयं सोच सकती हो कि मैं अपने मन-मंदिर की प्रेम-प्रतिमा को हृदय से भुला सकता हूँ ? तुम निश्चय रखो कि मैं तुमसे

सदैव गहरा प्रेम करता रहा हूँ और करता रहूँगा। जिस वस्तु को मैं औरों के लिये ढूँढ़ रहा हूँ, तुम्हारे लिये, सब से पहले ढूँढ़ूगा। प्राणेश्वरी! तुम्हें सहन करना चाहिये! सम्भव है कि हमारे और तुम्हारे दुःखो के कारण ही सारे संसार को सुख और शान्ति प्राप्त हो। मैंने तुम्हारे ही प्रेम से जगत् का प्रेम सीखा है; तुम्हारा ही प्रेम सारे जगत में फैलाऊँगा; किन्तु, हाँ, इतना अन्तर तो अवश्य हो जायगा कि जो निर्मल जल एक सुन्दर झारी में भरा हुआ है, वह फैलेगा और सारे संसार को प्यास बुझायेगा—

करेगी प्रेम-वर्षा आत्मा मेरी, घटा होकर।
प्रकाशित विश्व को करदेगी, सूरज की छटा होकर॥

[छन्दक का प्रवेश]

छन्दक—(हाथ जोड़कर) नाथ! सेवक आगया है; क्या है?

सिद्धार्थ—छन्दक! जिस प्रकार लोहे की शृङ्खलाओं से जकड़ा हुआ हाथी जङ्गल में घूमने-फिरने की इच्छा रखता है, उसी प्रकार मेरा हृदय भी इस प्रमोदागार में पड़े-पड़े उकता गया है; इसलिये कल संध्या होने से पहले हमारा रथ सजाओ हमें नगर-शोभा और प्रजा की दशा का दृश्य दिखाओ!

छन्दक—जो आज्ञा।

[यवनिका गिरती है]

पहिला अंक

छठा दृश्य

जंगल में शिवालय

[पाखंडी साधु हाथ में कमंडल लिये, कंधे पर झोली लटकाए, आता है, एक ओर को मृगछाला बिछाकर बैठ जाता है।]

साधु—दंड कमंडल ले मृगछाला। भस्म रमाई पहनी माला।
वेश बनाकर चुगा डाला। फँसा पखेरू भोलाभाला।

[दूसरी ओर से धनपति आता है]

धनपति—(वस्त्र में बँधे हुए आभूषणों को बजाकर) हा! हा! हा! अब चौगुना हो जायगा; जो जामन लगायगा, वही दही खायगा।

साधु—(आँख मारकर) दही भी ऐसी कि होंठ चाटता रह जायगा (प्रकट) ओ हो! तुम आ गये?

धनपति—आता कैसे नहीं, महाराज !

साधु— वह ले आये ?

धनपति—स्वामीजी ! ताँबा तो मिल ही जाता ।

साधु—(विस्मित होकर) परन्तु सोना ?

धनपति—सोने ही का तो पड़ गया रोना ।

साधु—बस, तो बिना उसके कुछ नहीं होना ।

धनपति—जब किसी प्रकार सोना हाथ ही न आया, तो अपनी स्त्री के आभूषण निकाल लाया !

साधु—हरि ओ३म् तत्सत् ! सोना हो या आभूषण, एक ही बात है ; अब बन गई रसायन !

धनपति—मैंने कहा, अब तो यह घड़ी-दो-घड़ी आँसू बहायगी ; परन्तु अन्त में तो चौगुनी माया देखकर प्रसन्न हो जायगी।

साधु—देखना, कैसो कुछ—कैसो कुछ ! अच्छा तो अब शीघ्रता से काम करो ; कहीं कोई और न आजाय, इतना परिश्रम ही व्यर्थ जाय । [धनपति अपनी गाँठ को निकालता है] हाँ ! हाँडी के लिये तो मैं तुम्हें कहना ही भूल गया ।

धनपति—(मुँह बनाकर) आपने हाँ नहीं कहा ! यहाँ तो क्या मिलेगी ? जंगल ही ठहरा ।

साधु—(सोचकर) हाँ ! मन्दिर के पुजारी के पास निकल आवे, तो कुछ आश्चर्य नहीं ; पूंछ कर तो देखो ?

धनपति—ठीक है ! ठीक है !! (मन्दिर की ओर घबराया हुआ-सा जाता है ।)

साधु—(स्वगत) लोभ भी मनुष्य की बुद्धि हर लेता है, आगा, पीछा कुछ नहीं सूझता, अंधा कर देता है। (हँसकर) सोना नहीं मिला, तो स्त्री के आभूषण ही निकाल लाया ! चलो जी ! हमें इससे क्या !

[धनपति हाँडी लेकर आता है]

धनपति—(हँसता हुआ) मिल गई ! स्वामीजी ! हाँडी मिल गई।

साधु—मिल गई ? हो प्रारब्ध के धनी ! अच्छा, अब वह सोना और ताँबा निकालो।

धनपति—(गाँठ खोलता हुआ) यह लो, कृपालो !

साधु—हरि ओ३म् तत्सत् ! भला, यह तोल में कितना कांचन है ?

धनपति—तोल की तो कुछ कह नहीं सकता, मोल में तो कोई डेढ़-दो सहस्र का धन है। यह लीजिये, आप भी तो देख लीजिए। (आभूषणों को साधु के आगे सरकाता है)

साधु—(कुछ अप्रसन्नता दिखाते हुए) नहीं, हम धातु को हाथ नहीं लगाते।

धनपति—भूला, महाराज ! भूला ; क्षमा कीजिये।

साधु—अच्छा, देखो इस हाँडी में नीचे तो करो ताँबे का बिछौना, और फिर उस पर रक्खो सोना। (धनपति हाँडी में ताँबा और सोना रखता है, साधु झोली में से कुछ जड़ी-बूटी निकालता है) लाओ ! इसे अब मेरे पास लाओ (धनपति हाँडी को साधु के आगे करता है

साधु उसमें जड़ी-बूटी डालता है) अब इसके मुँह पर कोई मिट्टी का ढकना ढँककर फिर इसे कपड़-मठ करना और वह (नेपथ्य की ओर संकेत करके) देखो ! उस पेड़ के नीचे ले जाकर इसे उपलों के दहाड़े में रख देना ।

[धनपति हाँडी को ले जाता है ।

दूसरी ओर से एक स्त्री बालक को गोद मे लिये आती है]

साधु—हाँ, तुम भी बोलो माई ? कैसे आई ?

स्त्री—(सिर नवाकर) महाराज ! न जाने इस बालक को झपटा हो गया है, या मसान ने दबा रखा है ; बीसियों घूँटी-बूटी पिलाई, सैकड़ों चट्टी-बट्टी खिलाई ; दुख पीछा ही नहीं छोड़ता ।

साधु—(कपटाश्चर्य से मुँह बनाकर) बेटी ! क्या तेरे घर में कोई पुरुष नहीं हैं ? जो तू ही बालक को लिये मारी-मारी फिरती है ?

स्त्री—अजी ! पुरुष ऐसे होते, तो मेरे भले ही दिन न होते ; वह तो महीनों मेरी सुध नहीं लेते ; उनके लिये तो मैं हुई न हुई एक सी ही हूँ ।

साधु—सच है, बेटी ! सच है, पुरुष बड़े ही कठोर-हृदय होते है ! अच्छा ! हम इसका भी उपाय बतायेंगे और बालक को भी दुख से छुड़ायेंगे । यह मसान का रोग औषधि से नहीं जाता, झाड़-फूँक के ही बस में आता है । ले आ, बालक को इधर ले आ । [स्त्री बालक को हाथों में लिये हुए साधु के पास आती है, साधु चिमटे से झाड़ता है] 'काली काली महाकाली ! इस बालक को कर

रखवाली; दुहाई, राजा रामचन्द्र की दुहाई; वीर हनुमान की दुहाई; रोता आवे, हँसता जावे, इसका रोग न रहने पावे; कैलाश पति की जय! भैरोनाथ की जय!' (हाथ से चिमटा रखकर और झोली में से विभूति निकाल कर, फिर उसे हथेली पर रख कर ऐसे ढंग से फूँक मारता है कि राख स्त्री की आँखों में जा पड़ती है, स्त्री आँखें मीचने लगती है, साधु झट से बालक के गले का आभूषण निकाल लेता है) हरि ओ३म् तत्सत्! ले बेटी! यह थोड़ी-सी विभूति और ले, कुछ इसे चटा देना, और कुछ इसके पेट पर लगा देना; भगवान् दया करेगा; बालक दो-तीन दिन में अच्छा हो जायगा।

स्त्री—क्यों नहीं महाराज! साधु-संतों को सब सामर्थ है।

साधु—सुनो, कल फिर आना; हम एक मंत्र लिख देंगे, जिससे तेरा पति भी तेरे कहने में हो जायगा; परन्तु देवता की भेंट के लिये थोड़ी-सी मदिरा का प्रबंध करती लाना।

स्त्री—मदिरा क्या, महाराज? कैसी होती है? कहाँ मिलती है?

साधु—(सोचकर) हाँ हमी चूके; मद्य को तू बिचारी कहाँ ढूँढ़ती फिरेगी, कैसे लायेगी।

स्त्री—(बटवे से द्रव्य निकालती हुई) हाँ बाबा जी! जो कुछ होती हो, मुझ से उसकी दच्छना ले लीजिए, और आप ही किसी से मँगा लीजिये। (द्रव्य निकाल कर साधु के सामने रखती है)

साधु—यहाँ न रक्खो! यहाँ न रक्खो!! देखो, मंदिर में पुजारी बैठे हैं; उन्हें देती जाओ; वह ला देंगे या किसी से मँगवा देंगे।

स्त्री—(हाथ जोड़ कर) बड़ी कृपा होगी। [स्त्री जाती है, दूसरी ओर से धनपति आता है]

धनपति—(घबराया हुआ) हाँ स्वामीजी! दहाड़ा तो मैं लगा आया; परन्तु आपने यह न बताया कि हाँड़ी अग्नि में कितनी देर रहेगी?

साधु—हत् तेरे की! (दाँत पीस कर) अरे! उसे पहर भर की आँच लगाना; देखो कहीं हाथ-पाँव न जलाना। फिर उसी प्रकार निकाल कर सीधे घर ले जाना; मार्ग में किसी से न बोलना, और जब तक हाँडी ठंडी न हो, उसे न खोलना।

धनपति—जो आज्ञा!

साधु—परन्तु, हम जान गये कि तुम हो निरे मूर्ख ही।

धनपति—(चौंक कर) क्या हुआ महाराज?

साधु—'क्या हुआ महाराज!' अरे भाई! तुम हाँड़ी को वहाँ छोड़ कर यहाँ चले आये; वह तो, चलो, इस बात को कोई जानता नहीं; और जो कदाचित् उसे कोई निकाल कर ले जाय?

धनपति—इतने ही में?

साधु—(भौंह चढा कर) हाँ, इतने ही में! अच्छा, जाओ, अब फिर यहाँ न आना। पहर भर की आँच देकर सीधे घर लेजाना।

धनपति—(हाथ जोड़ कर) बड़ा अनुग्रह! बड़ी कृपा!!

[धनपति का प्रस्थान और पुजारी का प्रवेश]

पुजारी—स्वामीजी! कार्य सिद्ध हो गया!

साधु—(हर्ष से उछल कर) हो गया ! हरि ओ३म् तत्सत् !

पुजारी—बड़ी सुगमता से हो गया ; परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि वह मूर्ख बीच में उठ कर कैसे चला आया ?

साधु—बीच में कैसे न आता ! यही तो चतुराई थी, बात ही उसे इस ढंग से बताई थी। अच्छा, देखो तो क्या-क्या आभूषण हैं ? कितने का धन है ?

पुजारी—हाँ हाँ ! यह लीजिये (कपड़े की गाँठ खोलकर साधु के आगे रखता है)

साधु—(हाथ से एक-एक वस्तु को देखता है) अच्छा यह पछेली और यह छन।

पुजारी—(हाथ से दूसरे आभूषणों को सरकाकर) और यह कड़े और कंगन ; अधिक से अधिक एक सहस्र का धन !

साधु—और क्या ! बस, इससे अधिक कुछ नहीं ? (नेपथ्य की ओर देखकर) हटाओ ! हटाओ ! पुजारीजी इस बखेड़े को यहाँ से हटाओ, देखो ! दो मनुष्य आरहे हैं, कहीं इस प्रपंच का भाँडा न फूट जाय।

[पुजारी झटपट आभूषणों को फिर उसी वस्त्र मे बाँध कर शीघ्रता से चला जाता है। दो मनुष्य बातें करते हुए आते हैं]

पंडित—कहो लाला ! आज यह दुशाला कैसा कन्धे पर डाला ?

लाला—जैसे पंडत के गले में माला, वैसे ही लाला के कन्धे पर दुशाला !

पं०—अच्छा हम समझ गये, बाबाजी की भेंट करने के लिये लाये हो, बाबाजी को।

ला०—क्या-नाम-कि, पंडत! हो तुम बड़े ताड़ने वाले।

पं०—(साधु की ओर देखकर) तनिक धीरे-धीरे बोलो, लाला! धीरे-धीरे। देखते नहीं, महात्मा ध्यान में बैठे हैं। जो कहीं समाधि टूट गई, तो लेने के देने पड़ जायँगे।

ला०—क्या दुशाला उढ़ाने पर भी बाबाजी ठीक-ठीक न बतायेंगे?

पं०—भई! जब प्रारब्ध ही फूटी हुई हो, तो किसी का क्या दोष! महात्मा बेचारे ने तो पिछली बार भी 'कुएँ पर ततैया' बताकर खुला तीस का धड़ा दिया था; परन्तु लाला! हो करम-हीन। ततैये के तो तीन लगाये; किन्तु कूएँ की बिन्दी को ध्यान मे न लाये।

ला०—जाने भी दो, अब उसका झींकना ही क्या? अब तो आगे की चिन्ता करो, आगे क्या करना है।

पं०—भई! मुझे तो केवल मिठाई का दोना धरना है (आगे बढकर साधु के आगे मिठाई का दोना धर देता है)

ला०—पंडित जी! तुमने तो दोना धर दिया; परन्तु महात्मा को दुशाला कैसे उढ़ाया जाय?

पं०—अच्छी कही! दुशाले का क्या उढ़ाना! एक पल्ला मुझे दो दूसरा तुम हाथ में लो और धीरे से महात्मा की पीठ पर डाल दो।

ला०—ठीक कहो (एक पल्ला दुशाले का पंडित को देकर) यह लो, ऐसा ही करो। [दोनों दुशाले का एक-एक पल्ला पकड़ कर साधु को पीठ पर डालते हैं]

साधु—(चौंककर) क्या गड़बड़ मचा रक्खी है ? दुष्टों ने मेरी समाधि में भंग डाल दी।

पं०—(हाथ जोड़कर) भंग नहीं, महाराज ! मिठाई में तो चरस की पुड़िया रक्खी है।

साधु—(झुँझलाकर) चरस की पुड़िया ! ठहर जा, अभी बताता हूँ।

ला०—(हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाता हुआ) बता दीजिये, महाराज ! आज तो, क्या-नाम-कि, स्पष्ट ही बता दीजिये।

साधु—(क्रोध से) ले स्पष्ट ही ले ! (लाला की पीठ पर चिमटे मारता हैं लाला पृथ्वी पर सिर टेके हुए, गिनते रहते हैं)

ला०—एक ! दो ! तीन !

पं०—लाला ! कहीं गिनती मत भूल जाना।

[साधु, लाला को छोड़, पंडित की ओर जाता है]

साधु—अच्छा ! तो ले, तूभी परशाद ले। (पंडित की पीठ पर दोनों हाथ से दुहत्तड़ मारता है)

ला०—(धरती पर सिर टेके हुए) पंडतजी ! अपने तुम याद रखना, क्या-नाम-कि—दुहत्तड़ के दो हुए।

साधु—फिर बोला ! (लाला की कमर में एक मुक्का मारता है) पशु

कहीं के, बिजार! दुखी करने को चले आते हैं, जंगल में भी साधुओं का पीछा नहीं छोड़ते।

[अपने आसन पर आकर फिर ध्यान में बैठ जाता है। लाला और पण्डित एक ओर खड़े हुए साधु की वाणी का अर्थ लगाते हैं]

पं०—कहो लाला! क्या समझे?

ला०—समझे क्या—क्या-नाम-कि पहले तीन चिपटे तो हमारे लगे और फिर एक दुत्तहड़ तुम्हरे।

पं०—तो, भई लाला! तुम्हारे तीन चिमटों के तो तीन और हमारी दुहत्तड़ के दो। तीन और दो पाँच, और फिर तुम्हारे मुक्के को...

ला०—(उछल कर) क्या-नाम-कि—बिंदी।

पं०—पाँच और बिन्दी पचास! यह तो कोरा पचास का धड़ा दिया। अच्छा और देखो (सोचता हुआ) 'पशु कहीं के, बिजार' (उँगली पर गिनकर) प...शु, पशु के तो पाँच, और बिजार के (सोचता हुआ)

ला०—क्या नाम-कि बिंदी। यों भी पचास हुए। भई पंडत, यों भी पचास ही हुए।

पं०—तो भई, लाला! अब के पौबारे हैं।

ला०—पौबारे क्या—वारे न्यारे हैं। अब के (गर्दन हिलाता हुआ) आये बिना नहीं रह सकता। पचास आयेगा, खरा पचास!

पं०—हाँ तो चलो, सीधे सट्टेवालों के पास! [दोनों जाते हैं। दूसरी ओर से एक स्त्री आती है]

स्त्री—(हाथ जोड़कर) बाबाजी ! दंडौत ।

साधु—सौभाग्यवती हो ।

स्त्री—क्यों, महाराज ! अभी-अभी जो एक मनुष्य गहने लेकर आया था, वह कहाँ है ?

साधु—(सिटपिटा कर) को...को...कौन, धनपति ?

स्त्री—हाँ, हाँ, वही, वही ।

साधु—(स्वयम्) हाय ! हाय !! बुरा हुआ, नाम नहीं लेना था, अब बात बननी कठिन है । (प्रकट) हाँ, तुम किसे पूछती हो ? यहाँ तो एक आता है और एक जाता है ; दिन भर यही लगा रहता है ।

स्त्री—यह तो ठीक है ! परन्तु मैं तो उन्हे पूछती हूँ, जिनका आपने अभी नाम लिया था ।

साधु—मैंने ? कब ? किसका ? क्या कहा था ?

स्त्री—चलो इन चालों को रहने दो, सीधी-सीधी बातें करो ; मैं मूर्खा नहीं हूँ, देखो बाँधे जाओगे, तो पीछे पछताओगे ।

साधु—क्यों माई ! कुछ भंग पी के तो नहीं आई ?

स्त्री—देखो भंग-वग के भरोसे मत रहना ; कुशल चाहते हो, तो मेरा गहना रख दो । (नेपथ्य की ओर देखकर) हाँ ! वह आग का दहाड़ा लगाये कौन बैठा है ? (पहचानकर) हाँ, हाँ, वही है ; ठीक, वही है । (वेग से धनपति की ओर चली जाती हैं)

साधु—(खड़े होकर) हरि ओ३म तत्सत ! अब यहाँ ठह-

रना वृथा है। अवश्य यह धनपति की ही स्त्री है। इसी के वह आभूषण निकाल कर लाया है। अब यह भंडा फूटे बिना नहीं रह सकता। फूटो! हमें इसकी चिन्ता ही क्या है? किसी और ग्राम में जायँगे, कोई दूसरा स्वांग बनायँगे। (झोली, कमंडल, मृगछाला, चिमटा आदि उठाकर भागता है) हरि ओ३म् तत्सत्!

पहला अंक

सातवाँ दृश्य

नगर का राजपथ

[दो नागरिकों का प्रवेश]

१ला नागरिक—क्यों भाई! आज जो नगर का शोधन कराया गया है, इस प्रकार सजाया गया है, इसका क्या प्रयोजन है ?

२रा नागरिक—महाशय ! मैं इस विषय में कुछ भी नहीं जानता ; केवल अनुमान यह कहता है, कि राजभवन में कोई उत्सव होने वाला है।

१ला नागरिक—संभव है ; परन्तु मैं देखता हूँ कि युवराज सिद्धार्थ के जन्मोत्सव में भी ऐसी रचना नहीं की गई, और न उनके विवाहोत्सव में ही नगर को ऐसी शोभा दी गई।

जिससे राजकुमार को घृणा आये ; उसके करुणा-पूर्ण हृदय पर चोट लगे, वैराग्य के विचारो को और सहायता मिले ।

[कुछ सैनिकों के साथ पुराधिकारी और नगर-नायक का प्रवेश]

पुराधिकारी—नायकजी ! आज का प्रबंध बहुत ही साव-धानी से करना होगा । आपने सुना है नृपति की क्या आज्ञा है ?

नायक—हाँ, मेरे पास भी आज्ञा-पत्र पहुँचा है ।

पुराधिकारी—तो आपने प्रत्येक सैनिक को समझा दिया है कि कोई मैला-कुचैला, रोगी-सोगी, दुखी-दीन, बूढ़ा और अंगहीन, इस पथ से न निकलने पावे ?

नायक—बड़े-बड़े मार्ग और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों पर तो सैनिकों का नियत कर दिया है ; परन्तु छोटी-छोटी गलियों का प्रबन्ध नहीं हुआ है ।

पुराधिकारी—गलियों का प्रबन्ध कैसे हो सकता है, वह तो सर्वसाधारण का रास्ता है । (सोचकर) और फिर युवराज का रथ भी तो बड़े-बड़े मार्गों से होता हुआ आयेगा ; गलियों में क्या करने जायेगा ?

नायक—(पहले से खड़े हुए दो नागरिकों की ओर बढ़कर) हट जाओ, हट जाओ ! मार्ग में न खड़े हो !

१ला नागरिक—अच्छा ! नायकजी, आज तो अपराधी, निरपराधी सभी टोके जाते हैं ? मार्ग चलते भी रोके जाते हैं ?

नायक—कारण यह है कि नगर-भ्रमण के लिए युवराज आ रहे हैं ।

२रा नागरिक—युवराज आ रहे हैं ? तभी आप इतना परिश्रम उठा रहे हैं !

पुराधिकारी—इसमें परिश्रम को क्या बात है ? यह तो हमारा कर्तव्य है ।

१ला नागरिक—कर्तव्य है ? आज ही के लिए या सदैव के लिए ?

नायक—भाई ! जब कोई राजा या राजकुमार आता है, तभी ऐसा प्रबन्ध किया जाता है ।

२रा नागरिक—(हँसकर) इसलिए कि वह धोखा खाय, अपने नगर और प्रजा की वास्तविक दशा न जानने पाये ?

पुराधिकारी—इसका यह तो प्रयोजन नहीं ।

पहला नागरिक—तो यह होगा कि देश चाहे कैसी ही अवस्था में पड़ा रहे , परन्तु राजा अपने कर्मचारी और कार्याधीशों को बड़ा ही उद्योगी और कर्त्तव्य-पालक समझता रहे ।

नायक—(स्वयं) ओहो ! जनता में ऐसा साहस, इतनी धृष्टता !

[एक सैनिक दौड़ा आता है]

सैनिक—(घबराया हुआ) श्रीमान् ! राजकुमार का रथ प्रमोद-कानन से चल दिया !

पुराधिकारी—(सिटपिटा कर) चल दिया ! नायकजी ! शंख-ध्वनि कराओ, सावधान हो जाओ ।

नायक—(सैनिकों में से एक से) गदाधर ! शंख बजाओ और देखो, सब लोग अपने-अपने नियत स्थान पर खड़े हो जाओ ।

[शंखध्वनि सुनकर गलियों में से पुरुष और बालक उत्सुक हुए दौड़े आते हैं। भवनों की खिड़कियों में से स्त्रियाँ झाँकती हैं]

पहली स्त्री—(खिड़की में से) सखी ! राजकुमार का रथ तो कृष्णाष्टमी के चन्द्रमा से भी बढ़ गया ।

दूसरी स्त्री—(दूसरे झरोखे में से) शंखध्वनि से तो प्रतीत होता है कि अब निकट ही आ गया है ।

तीसरी स्त्री—(खिड़की में से) अये हये ! मैं तो जल्दी के मारे फूलों की डलिया भी भूल आई ।

चौथी स्त्री—(चौथे झरोखे से) यह तो तुमने भली याद दिलाई । (घर में को पुकार कर) अरी चन्द्रावली ! द्वार के पट लगाती आ, और फूलों की डलिया उठाती ला ।

पहली स्त्री—सखी ! तुमने कभी युवराज को पहले भी देखा है ?

दूसरी स्त्री—बहन ! दर्शन तो नहीं किये, हाँ चित्र देखने में आया है, वही बात है—

बय किशोर, सुषमा सदन, छवि अनूप सुखधाम ।
अंग-अंग पर वारिये, कोटि कोटि शत काम ॥

तीसरी स्त्री—(रथ देखकर, चाव से) अरी आवो, आवो,

अवसर निकला जा रहा है, वह देखो सामने से रथ आ रहा है।

[रथ आता है, उसपर ऊपर से स्त्रियाँ फूल बरसाती हैं। इधर-उधर की गलियों से मनुष्य जय-जय करते हुए बढ़े चले आते हैं]

कुछ लोग—(एक स्वर से) राजकुमार की जय! युवराज सिद्धार्थ की जय!

एक मनुष्य—(हाथ उठाकर) ठहराइये, कृपानाथ! थोड़ी देर रथ ठहराइये।

दूसरा—प्रजा को नेत्र-लाभ उठाने का अवसर दीजिये।

तीसरा—हम-से तुच्छ मनुष्यों की भी अभिलाषा पूर्ण कीजिये।

सिद्धार्थ—ठहराओ, सारथी! रथ को ठहराओ, देखो, देखो प्रजा मेरे देखने के लिये कैसी उत्कण्ठित हो रही है।

[रथ ठहरता है, राजकुमार उतरते हैं]

नायक—(भीड़ को हटाता हुआ) हट जाओ, हट जाओ, यहाँ भीड़ मत लगाओ।

सिद्धार्थ—आप इन्हें क्यों हटाते हैं? ये यहाँ खड़े हुए क्या कुछ हानि पहुँचाते हैं? यद्यपि मैं इन लोगों का शासक नहीं हूँ, तो भी इनका भाव और चाव सराहनीय है। (प्रजावर्ग से) भाइयो! तुम क्या चाहते हो?

एक मनुष्य—दर्शन, केवल दर्शन! राजकुमार! हमें ईश्वर ने स्वराज्य दे रक्खा है। आपकी कृपा से इस समय हमारा देश,

धन-धान्य और सुखशान्ति से भरपूर है। जय ! युवराज सिद्धार्थ की जय !

[जनता चली जाती है]

सिद्धार्थ—छन्दक ! जैसा यह नगर आज सजा हुआ, शोभायमान और आनन्दमय दिखाई देता है, क्या सदैव ऐसा रहता है ?

सारथी—महाराज को कृपा से सदैव यही आनन्द रहता है ; परन्तु आज कुछ विशेषता भी है।

सिद्धार्थ—नहीं, यह नगर की वास्तविक दशा नहीं है। लोगों की सजावट है ; प्रजा स्वाभाविक सुखी नहीं है, यह कोरी बनावट है—

जहाँ पर ईर्षा हो, द्वेष हो, अभिमान रहता हो ,
जहाँ पर छल-कपट हो, स्वार्थ का ही ध्यान रहता हो ,
जहाँ पर काम, निन्दा, क्रोध का सम्मान रहता हो ,
जहाँ पर प्रेम ही से शून्य चित्त-स्थान रहता हो ,
वहाँ आनन्द कैसा, जिस जगह अज्ञान रहता हो ?

मैं चाहता हूँ कि मनुष्यों को अंधकार से बचाऊँ, उन्हें संसार में रहकर ही ज्ञान और ज्योति का चमत्कार दिखाऊँ ; किन्तु यह बानक बनता दिखाई नहीं देता। पराधीन मनुष्य दूसरों को स्वाधीनता कैसे सिखा सकता है ? जो स्वयं बंधन में है, वह औरों के बंधन कैसे काट सकता है ?

[एक दूत का प्रवेश]

दूत—युवराज की जय हो ! सौभाग्यवती युवरानी के नंदन उत्पन्न हुआ है। बालक के दिखाने को बहूरानी को बड़ी उत्कण्ठा है।

सिद्धार्थ—जाओ, भंडारी से कहकर हमारा रत्न-भण्डार खुलवाओ, मनमाना चाँदी और सोना बाँटो, लुटाओ; और लो (गले से हार उतार कर) तुम्हारे पारितोषिक में यह हार है; घर में कह देना, हमारा शीघ्र ही लौटने का विचार है।

दूत—(हाथ में हार लेकर धन्यवाद देता हुआ)

जय-जयकार रहे जग में, निसि-दिन यश फैले कीरति छावे।
पुण्य प्रताप की बेल बढ़े, धन-धान्य को देख कुबेर लजावे।
भानु का जिमि दिन मान बढ़े, श्रीमान् का तिमि श्री मान बढ़ावे।
शत्रु-निकंदन नव नंदन आनन्द रहे चिर आयुष् पावे॥

[दूत का प्रस्थान]

सिद्धार्थ—लो, बंधन पर बंधन ! मैं जिस शृंखला को तोड़ना चाहता था, प्रकृति ने उसमें एक कड़ी और लगा दी, रुकावट बढ़ा दी। इस समय मेरी गति उस मक्खी से मिलती है, जो मकड़ी के जाले में फँसकर, निकलने के लिये जितनी फड़-फड़ाती है, उलटी उतनी ही उलझती जाती है। स्वतंत्रता ! तेरा मिलना कठिन है; तू जब तक अपने प्रेमियों की परीक्षा नहीं ले लेती, उन्हें दर्शन नहीं देती।

[एक बूढ़ा मनुष्य हाथ में लाठी लिये आता है, कमर झुकी है, पाँव लड़खड़ाते हैं, सैनिक उसे धमकाते हैं]

बूढ़ा—अरे बाबा ! मैं बूढ़ा हूँ । कोई इतनी दया करो, मुझे मेरे घर का मार्ग बता दो ।

एक सैनिक—अरे लौट, लौट, तू यहाँ कहाँ आता है ?

दो सैनिक—क्या मरने को जी चाहता है ?

नायक—निकालो, निकालो ; इस हत्या को यहाँ से टालो ।

[सैनिक बूढे को धक्का देता है]

बूढ़ा—अरे मैं बुढ़ापे का मारा हूँ, मुझे क्यों मारते हो ? (खाँसी उठती है)

सिद्धार्थ—नायकजी ! इसे जाने दो, दुखी मत करो, मार्ग बता दो । (सारथी से) सारथी ! यह कैसा मनुष्य है ? इसकी खाल सूखे वृक्ष की छाल के समान चुड़ गई है, कमर झुककर घुटनों से जुड़ गई है, अंग-अंग काँपता है ; दो पग धरता है, तो चार घड़ी हाँफता है ।

सारथी—राजकुमार ! यह पहले हम-सा ही मनुष्य था ; इसका हम-सा ही यौवन और पुरुषार्थ था ; किन्तु बुढ़ापे के कारण इस गति को पहुँचा है ; जरा-जीर्ण है, बड़ी ही शोचनीय दशा है ।

[बूढ़ा जाता है]

सिद्धार्थ—यदि यही दशा है, तो मनुष्य का सुख मानना ही वृथा है । (स्वयं) बावले मन ! तू जिस कमल-नयनी का भौंरा बना हुआ है, यह परिवर्त्तन तो उसके पीछे भी पड़ा है ! खिले हुए फूल के समान दो ही दिन की शोभा है ।

[एक बड़ा दुबला पतला रोगी आता है]

रोगी—हाय ! मैं मरा, मेरे प्राण चले ; अरे मुझे कोई बचाओ ; मेरे शरीर में ज्वाला जल रही है ।

एक सैनिक—अरे ! तो यहाँ क्या ठंडी पवन चल रही है ?

[रोगी आगे को बढता हुआ आता है]

दूसरा सैनिक—(रोककर) देखो, फिर वही ; आगे ही को चला आता है ।

रोगी—हाय ! मेरा शरीर जला जाता है । न कोई सहाय करता है, न कोई उपाय बताता है ।

सिद्धार्थ—(रोगी की ओर बढकर) भाई, घबराओ मत, मुझे सेवा बताओ । कहो, तुम्हें क्या हुआ है ?

नायक—हट जाइये, हट जाइये ! युवराज ! इसे हाथ न लगाइये !!

[रोगी सिर पकड़कर पृथ्वी पर बैठ जाता है]

सिद्धार्थ—क्यों इसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? (सारथी से) सारथी ! क्या यह भी बुढ़ापे का मारा है ?

रोगी—अरे प्राण भी तो नहीं निकलते । (घबड़ाकर उठता हुआ) मेरे शरीर में ज्वाला जल रही है, मेरी देह में अग्नि बल रही है ।

[उन्माद में भरा हुआ एक ओर को चला जाता है]

सिद्धार्थ—(लम्बी साँस खींचकर)

इसी गौरव पै इतना देह को हम प्यार करते हैं ?
इसी रोगों के घर का रात दिन शृंङ्गार करते हैं ?
इसी पर, राज की इच्छा से अत्याचार करते हैं ?
इसी क्षण-मात्र सुख की लोग जय-जय कार करते हैं ?

इसी पर, चन्द्रमा के हास्य का मन सुख उठाता है ?
इसी पर, सूंघ कर फूलों को क्या आनन्द आता है ?

[नेपथ्य—रामनाम सत्य है, सत्य बोलो गत्य है, हरि का नाम सत्य है, सत्य बोलो गत्य है]

पुराधिकारी—आपदा पर आपदा ! जिनके रोकने के लिए इतना प्रबन्ध कराया, चौकी पहरा लगाया, आज वह सभी राजकुमार के सम्मुख आकर रहेंगे ? महाराज सुनेंगे, तो क्या कहेंगे ?

सिद्धार्थ—(उदासीन भाव से आकाश और पृथ्वी की ओर देखते हुए) सार कुछ नहीं ! संसार कुछ नहीं ! उसके व्यवहार कुछ नहीं ! मूर्ख जिसे रत्न समझता है, वास्तव में मिट्टी है ; यह दुनिया धोखे की टट्टी है । मनुष्य, दुख की डोरी और मृत्यु के फन्दे से बने हुए जीवन के जाल में जकड़ा हुआ है ; वह यह नहीं जानता कि सुख का परिणाम दुख, यौवन का बुढ़ापा, स्नेह का बिछोह और जन्म का मृत्यु है । वह अपने सुख के लिये देवताओं से प्रार्थना करता है, दुख से घबराकर चिल्लाता है, गिड़गिड़ाता है ; किन्तु कोई उसे दुख से नहीं बचाता । ईश्वर सृष्टि-कर्ता और सर्व-शक्तिमान होकर भी उसे दुखी रखता है, तो कुछ अच्छा नहीं करता । संतान की दुर्गति पिता कभी नहीं देख सकता । मैं जिस जीव को बचा सकूँगा, अवश्य बचाऊँगा ; उसे चिल्लाने का अवसर न दूँगा, जैसे भी हो सकेगा, सहायता करूँगा, वेदना मिटाऊँगा । लौटाओ, छन्दक ! रथ को राजभवन की ओर लौटाओ ।

[सिद्धार्थ रथ में बैठ जाते हैं, सारथी रथ को बढ़ाता है]

पहला अंक

आठवाँ दृश्य

राज-भवन का आँगन

[असिति ऋषि के साथ राजा शुद्धोधन का प्रवेश]

ऋषि—राजन् ! तुमने जो स्वप्न में इन्द्र की पताका को, प्रचण्ड वायु के झोंके से फटकर, पृथ्वी पर गिरते हुए देखा है, उसका यही अभिप्राय है कि पुराने मत-मतान्तरों का अन्त हो जायगा और राजकुमार एक ऐसा सच्चा, सीधा और सुखदायक मार्ग बतायेगा, जो इस देश का—नहीं, बल्कि संसार का—सबसे बड़ा धर्म कहलायगा।

राजा—(स्वगत) जिस बात से मेरा मन दहलता है, इसका तो वही परिणाम निकलता है। (प्रकट) अच्छा वह जो वृक्ष

हाथियों का समूह पृथ्वी को हिला रहा था और सिद्धार्थ चार घोड़ों के रथ में बैठा हुआ आ रहा था,—वह क्या बात थी ?

ऋषि—वह हाथी धर्म के दस बड़े नियमों को बता रहे थे, जो अपने बल से सारी पृथ्वी को हिलायेंगे ; मिथ्या आडम्बरों को मिटाकर, शान्ति फैलायेंगे।

राजा—और वह चार घोड़े ?

ऋषि—वह चार नीतियाँ थीं, जिनके द्वारा राजकुमार सन्देह और अन्धकार से निकल कर सुखदायक प्रकाश में आयेंगे।

राजा—फिर मैंने देखा कि कुमार एक चक्र को बड़े वेग से घुमा रहा है और एक विशाल ढोल को बड़े उत्साह से बजा रहा है।

ऋषि—वह चक्र प्रकृति का परिवर्तन-चक्र था, जिसका उदाहरण दे-देकर राजकुमार अपने धर्म को समझाते थे और ढोल बजा-बजाकर भ्रम निद्रा में सोये हुए मनुष्यों को जगाते थे।

राजा—फिर क्या देखता हूँ कि सिद्धार्थ एक गगनस्पर्शी अट्टालिका पर बैठा हुआ अनमोल रत्न लुटा रहा है ; जीव-मात्र को लाभ पहुँचा रहा है ; परन्तु एक ओर को छः मनुष्य मुँह बंद किये रो रहे थे, न-जाने वह किस बात से दुखी हो रहे थे ?

ऋषि—युवराज धर्म-शिक्षा के अनमोल रत्न लुटायेंगे, जिसके लेने के लिये देवता और मनुष्य सभी हाथ फैलायेंगे।

राजा—परन्तु वह छः पुरुष मुँह बंद किये क्यों रो रहे थे ?

ऋषि—वह षट्-दर्शन थे, जो राजकुमार को निर्मल सत्यता और अनुपम व्याख्या से अपनी त्रुटियों को विचार कर लज्जित हो रहे थे। बस, यही तुम्हारे स्वप्नों का फल होगा ; परिणाम, सब प्रकार कुशल और मंगल होगा।

राजा—भगवन् ! मेरे इस हृदय विदारक स्वप्न की उलझन को इस प्रकार सुलझाना आप-ऐसे ही त्रिकालज्ञ महात्मा का काम है।

ऋषि—नरेन्द्र ! तुम धन्य हो ! तुम्हारा शाक्य-कुल धन्य है, जहाँ ऐसी महान् आत्मा ने जन्म लिया है, जिससे तुम्हारा और तुम्हारे वंश का ही नहीं, सारे ससार का, उद्धार होगा। जिस ज्योति ने इन राजभवन में प्रकाश किया है, उसका सूर्य से भी अधिक चमत्कार होगा। पृथ्वी के बड़े बड़े सम्राट् तुम्हारे पुत्र के आगे शीश नमायेंगे ; देवता तक पूजने आयेंगे। अच्छा राजन्, कल्याण हो, हम जाते हैं।

राजा—प्रणाम, महर्षि ! प्रणाम !

[असिति ऋषि का प्रस्थान, और दूसरी ओर से सिद्धार्थ, मंत्री, पुराधिकारी और नगरनायक का प्रवेश]

सिद्धार्थ—(शिर नमाकर) पिताजी ! प्रणाम।

राजा—(आशीर्वाद देता हुआ) आयुष्मान ! कहो बेटा ! नगर-भ्रमण किया ? प्रजा की कैसी दशा देखी ?

सिद्धार्थ—अद्भुत ! विचित्र ! शरीर रोगों का स्थान है,

किन्तु मनुष्य को बनाव और शृङ्गार ही का ध्यान है। मृत्यु पीछे-पीछे फिरती है; परन्तु प्राणी की उलटी ही प्रकृति है। कहता है 'यह संसार मेरा है; नहीं समझता कि यहाँ चिड़िया रैन बसेरा है।

राजा—सच है, परन्तु ऐसा समझ लेने से भी तो संसार का काम नहीं चलता, फिर भी एक न-एक चिन्ता बनी ही रहती है, दुःख नहीं टलता। मान लो हम शासन और सिंहासन से चित्त हटा लें; सब मंत्रीगण भी राज्य कर्म से हाथ उठालें; वैराग्य ही की ओर सब ध्यान लगालें और पुरवासी भी किसी धर्म को न पालें, तो क्या तुम समझते हो कि इससे आनन्द मिलेगा? न कोई सन्ताप रहेगा और न कोई पाप रहेगा?

सिद्धार्थ—इससे मेरा यह आशय नहीं कि सारी जनता आलस्याधीन हो जाय, अपने कर्तव्य का पालन ही न करे, पुरुषार्थ-हीन हो जाय; किन्तु हमारा काम सर्वहितकारी होना चाहिये और यह जगत् शान्ति-मय सुख-धाम होना चाहिये।

मंत्री—यह कैसे हो सकता है?

सिद्धार्थ—हो सकता है। पहले से तो होता आया है। जिस समय मनुष्य भोले-भाले पशुओं के समान प्राकृतिक, सरल जीवन व्यतीत किया करते थे, उस समय जैसे किसी ने चुम्बक पत्थर की रगड़ से आग बनाने की रीति, खेती से अन्न और कपास से वस्त्र बनाने की विधि निकाली, वैसे ही मैं भी दीन-दुःखियों के लिये एक सीधा और सुखदायक मार्ग निकालूँगा; गिरते हुए मनुष्यों को सम्हालूँगा।

राजा—(चौंककर) हैं! वत्स! यह क्या कहते हो? मुझ-पर इस वृद्धावस्था में वज्राघात करते हो! राजभूषण! मुझे अपने शाक्य-कुल में एकमात्र तुम्हारा ही तो आश्रय है; मेरे तुम इकलौते ही पुत्र तो हो; तुम्हारे इतने ही कहने से मुझे तो अंधकार-सा प्रतीत होने लगा। मेरे प्राण! तुम्हारे बिना यह शरीर जीवित नही रह सकता।

सिद्धार्थ—पिताजी! संसार असार है, यौवन सदा नहीं रहता, बुढ़ापा अवश्य आता है; अंत में मनुष्य काल का ग्रास बन जाता है। यदि इसे आज अपनी इच्छा से न छोड़ा, तो कल वैसे छोड़ना पड़ेगा। फिर किससे और किसलिये स्नेह बढ़ाऊँ? मुझे आज्ञा दीजिये कि मै जाऊँ। नरनाथ! मोह और ममता के आवेश को मेरे इस उच्च उद्देश्य में बाधा न डालने दीजिये।

राजा—पुत्र! तुम्हे किस मन से बिदा करूँ? कहीं राजकुमार को सन्यासी बनने में शोभा है? सच पूछो तो इस आश्रम के लिये हमारी अवस्था है; और फिर गृहस्थाश्रम तो सभी आश्रमों का आधार है; इसमें रहकर मनुष्य क्या कुछ नहीं कर सकता?

सिद्धार्थ—पूज्यपाद! सत्य और धर्म की खोज के लिये ऐसा कोई समय नहीं हो सकता, जिसे अनुचित कहा जाय। कार्य-साधन के लिये यदि कोई अवस्था हो सकती है, तो वह युवा अवस्था ही है, जिसमें बल-बुद्धि-सम्पन्न होने के कारण मनुष्य हर एक काम सुगमता से कर सकता है।

राजा—परन्तु पतिव्रता यशोधरा के विषय में क्या सोचा है ? वह तो तुम्हारी धर्मपत्नी है, उसकी रक्षा और सहायता करने का भार तुमने, वेद-मंत्रों द्वारा, अग्नि आदि देवताओं के समक्ष, अपने ऊपर लिया है। उसका हृदय बड़ा ही कोमल और प्रेमपूर्ण है। जिस प्रकार सीता को त्यागने से लोग रामचन्द्र पर आक्षेप करते हैं, क्या तुम पर नहीं करेंगे ?

सिद्धार्थ—परन्तु आक्षेप करने से पहले उन्हें यह सोचना चाहिये कि मैं कुछ अपने राज्य को चिरस्थायी बनाने या कोई और सांसारिक सुख उठाने की इच्छा से, अथवा प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये, तो सीता के सदृश् गोपा को निर्वासित नहीं कर रहा हूँ। मैं तो संसार को दुःखग्रसित देखकर उसके लिये परम आनन्द और चिर-शान्ति की खोज में स्वयं वनवास ले रहा हूँ। पितृदेव ! जिस त्याग के परिणाम में जीव मात्र की भलाई है, तो वह उन लोगों के लिये कैसे दुखदाई हो सकता है जिनके नेत्र इस समय मेरे बियोग से व्याकुल होकर आँसू बहा रहे हैं ? उनका यह दुःख कुछ वास्तविक दुःख नहीं है, और जो है भी तो ठीक वैसा ही है, जैसा किसी रोगी और नासमझ बालक का वैद्य की कड़वी औषध पर दुखी होना।

राजा—मैं समझ गया, तुम्हारा पत्थर का हृदय है ; तभी तो स्नेहशून्य है। माता-पिता की ममता पर ध्यान नहीं धरते : स्त्री और सुकुमार बालक पर करुणा नहीं करते, जिनका हर्ष केवल तुम्हीं हो, जिनका सर्वस्व केवल तुम्हीं हो। अच्छा, जो

अपनी हठ ही पूरी करना चाहते हो तो, चले जाओ ; मेरा जीवन नष्ट करना चाहते हो तो, चले जाओ ; इस शाक्य-वंश को भ्रष्ट करना चाहते हो तो, चले जाओ ।

सिद्धार्थ—ऐसा न कहिये ! मेरे जन्मदाता, ऐसा न कहिये ! मैं आपको तो क्या प्राणी-मात्र को दुखी नहीं देख सकता ; इस दुःखमय जीवन को ही सुखमय बनाने के लिये तो मैं अकुला रहा हूँ। और इसी अकुलाहट से तो घर त्याग कर मैं जा रहा हूँ। यदि मेरे मनोकामना-रूपी वृक्ष में सफलता का फल आगया, तो जीवमात्र की तृप्ति हो जायगी ; पृथ्वी आनन्द-धाम कहलायगी ।

राजा—हा ! विधाता ! जो मेरे प्रारब्ध में यही दिन देखना बदा था, तो मुझे पुत्र-मुख दिखाकर ही सुखी क्यों किया था ? कहो अमात्य ! अब मैं क्या करूँ ?

मन्त्री—(सिद्धार्थ से) मान लीजिये , युवराज ! महाराज का कहना मान लीजिये ।

सिद्धार्थ—परन्तु आप मेरे हृदय से रोग, शोक, बुढ़ापे और मृत्यु की उलझन मिटा दीजिये ।

मंत्री—राजकुमार ! ऐसे तो विचार ही व्यर्थ है ; मनुष्य तो क्या, इस समस्या की पूर्ति के लिये देवता तक असमर्थ है ।

सिद्धार्थ—जब मृत्यु पर ही आपका अधिकार नहीं, तो मेरे रोकने से क्या यह प्रयोजन है कि इस अन्धे संसार में मैं भी अन्धा ही बना रहूँ ? मान लो यदि मेरा देहपात हो जाय, तो

कल से ही यह राज्य युवराजहीन कहालायगा या नहीं; मेरा रहना, न रहना बराबर हो जायगा या नहीं ? इसलिये, मुझे अपने इष्टसाधन के लिये जाने ही दो।

राजा—ठहरो! वत्स! ठहरो! यदि तुम इस समय कुछ और अधिक बोले तो सचमुच ही मेरे प्राण निकल जायँगे; मुझे सारी रात रोते-रोते बीती है। जाओ, अब तो प्रमोद-भवन में निवास करो; कल जो चाहो सो करना।

सिद्धार्थ—(शीश नमाकर) आशीर्वाद दीजिये, पिताजी ! मेरी मनोकामना पूर्ण हो।

[सिद्धार्थ का प्रस्थान]

राजा—हाय ! क्या उपाय करूँ ? कुछ बन नहीं आता ! मेरा प्राण जा रहा है। (कुछ ठहरकर) मंत्री, मुझे चक्कर सा आरहा है।

[राजा को मूर्च्छा आती है, मंत्री आदि उन्हें संभालते हैं]

मंत्री—(घबराये हुए) सर्वनाश ! विधाता की गति नहीं जानी जाती ! पुराधिकारी ! क्या देख रहे हो ? इधर आओ, नगरनायक ! तुम पाँवों की ओर सहारा लगाओ। महाराज को ले चलकर शयनागार में लिटाओ !

[तीनों मिलकर राजा को ले जाते हैं]

पहिला अंक

नवाँ दृश्य

प्रमोद-कानन का शयनागार

[एक पलग पर सिद्धार्थ सो रहे हैं, और दूसरे पर, बालक को लिये, गोपा सो रही हैं]

सिद्धार्थ—(पलग से उठकर, धीरे से) यही है ! मेरे जागने का अवसर यही है ! ! घर त्यागने का अवसर यही है । ठीक आधी रात का समय है, सन्नाटा हो रहा है, सारा नगर पड़ा हुआ सो रहा है ; बालक को लिये प्रिया भी सो रही है ; उसकी दासियों की भी आँखे लग गई हैं । गगन में चन्द्रमा चमक रहा है । चाँदनी अन्धकार को मिटाकर पथ दिखला रही है । मेरे हृदय से कोई कह रहा है, 'सिद्धार्थ ! आज ही की रात है , एक ओर सांसारिक मान और सम्पत्ति है, दूसरी ओर ज्ञान और शान्ति है । चाहे गृहस्थी में रहकर चक्रवर्ती राज्य करो ; चाहे भिक्षुक बनकर जीवो की वेदना हरो ।' मुझे क्या करना चाहिये ? इस

का निर्णय कौन कर सकता है ?—मेरा मन, मेरी बुद्धि ! मैं नहीं चाहता कि कठोर कृपाण की धार से मनुष्यों का संहार करूँ । मैं नहीं चाहता कि पृथ्वी को पद-दलित कर प्रजा का रक्त बहाऊँ, अत्याचार करूँ । ऐसा शासन मैं नहीं चाहता, जिसमें आदि से अंत तक रक्तपात-ही-रक्तपात है, जीवनभर संग्राम ही-संग्राम है ; ऐसे चक्रवर्ती राज्य को दूर ही से प्रणाम है ।

मैं चाहता हूँ विश्व में फैलाऊँ शान्ति
मैं चाहता हूँ दूर हो पृथ्वी की क्रान्ति
मैं चाहता हूँ भूमि से उठ जाये भ्रान्ति
मैं चाहता हूँ सत्य की दिखलाऊँ कान्ति

संसार के दुःखों से घबराकर जीव चिल्ला रहे हैं, उनके करुणा-जनक शब्द मेरे कानों में आ रहे हैं ! यदि मेरे कठिन-से-कठिन त्याग और दृढ़ पुरुषार्थ से उनको आरोग्यता प्राप्त हो सकता है, तो मैं अवश्य जाऊँगा । उनके लिए औषध ढूँढ़ कर लाऊँगा ; (आकाश की ओर देख कर) ऐ मेरे बुलाने वाले तारो ! मैं आता हूँ, ऐ दुखिया संसार ! मैं तेरे लिए आज इस ऐश्वर्यपूर्ण जीवन को छोड़ता हूँ, यौवन को छोड़ता हूँ , छत्र, सिंहासन को छोड़ता हूँ, प्रमोद कानन को छोड़ता हूँ, और उसे छोड़ता हूँ, जिसको छोड़ना बड़ाही कठिन है ; जो गृहस्थ का रत्न है । मेरी अर्द्धांगिनी ! मेरी जीवन-संगिनी ! तुझे छोड़ता हूँ, तेरी गोद में मोद से सोने वाले बालक को भी छोड़ता हूँ, जो हमारे परस्पर-प्रेम की कली है, अभी फूली है न फली है ; किन्तु याद रखना,

तुम भी इसी संसार के साथ, जिसके लिए मैं तुम्हे छोड़े जाता हूँ, मुक्ति पाओगे। इसलिए, ऐ मेरी भोली-भाली, मीठी नींद में सोनेवाली, प्रिया! मेरे अज्ञान बालक! मेरे पिता, प्रतिपालक! और ऐ मेरी शुभ-चिन्तक प्रजा! तुम उस समय तक इस थोड़े से कष्ट को सहन करो, जब तक ज्ञान-ज्योति का प्रकाश हो, अन्धकार का नाश हो। प्रिया! तुम मुझे कठोर-हृदय कहना, चाहे, निष्ठुर! निस्सन्देह मै तुम्हारा अपराधी हूँ, क्योंकि तुमसे बिना कहे जा रहा हूँ। मैं तुम्हे अवश्य जगाता; तुमसे कहकर ही जाता, परन्तु क्या करूँ, मै जानता हूँ तुम्हारे जगाने से मेरी कार्यसिद्धि में बाधा पड़ जायगी, फिर यह घड़ी हाथ न आयगी। इसलिए मुझे क्षमा करना। (कुछ सोचकर) परन्तु यह इसके साथ बड़ा अन्याय होगा, अनीति होगी, प्रेम और प्रीति के विपरीत होगी। और फिर किसके साथ? उस धर्म-प्रिया, प्रत्यक्ष धर्म मूर्ति के साथ, जिसका शृङ्गार हूँ तो मै, जीवन-अधार हूँ तो मैं! जो मेरे सुख को अपना सुख और मेरे दुःख को अपना दुःख जानती है, मुझे अपना सर्वस्व मानती है। मुझ पर प्राण निछावर करने वाली, मेरे जीवन पर मरने वाली! (कुछ देर चुप रहकर) नहीं! चलूँ, एक बार हृदय से लगाऊँ, पुत्र का भी मुख देख आऊँ, न जाने इस जन्म में फिर देखना मिले या नहीं। (आगे चलकर, फिर ठिठक कर) सो रही है! प्रिया अपने बालक को लिए सो रही है, नींद में बेसुध हो रही है; यह नहीं जानती कि यहाँ क्या हो रहा है। उठो प्रिया! उठो। देखो तुम्हारा पति तुमसे बिदा हो

रहा है। हाय! यह मेरे बिना कैसे जीवन बितायगी? रो-रो कर मर जायगी; प्रिया! इस समय तुम्हारी नींद तुम्हें धोखा दे रही है, तुमसे तुम्हारा अनमोल रत्न छीन रही है। यही गति इस जगत की है। जीव भ्रम-निद्रा में सो रहे हैं, न जाने क्या-क्या खो चुके हैं, और क्या-क्या खो रहे हैं। (चौंक कर) ओह! मेरा हृदय पवन में पत्ते के समान कम्पायमान है! कैसा अज्ञान है! धिक्कार है! मूढ़मन! तुझे सौ-सौ बार धिक्कार है!! पाषाण नहीं हो जाता! वज्र के समान नहीं हो जाता! इतने समझाने पर तेरी यह दशा है; बन्धन पर बन्धन बढ़ा रहा है। कभी स्त्री का मोह, कभी पुत्र की ममता! यह नहीं देखता कि तेरे सामने एक उच्चकार्य उपस्थित है। मूर्ख! तुझे इनसे लेना ही क्या है? छोड़! छोड़!! इस दुर्बलता को छोड़, इस मोह को, इस ममता को छोड़। अच्छा, तो लो! बिदा, तात के चरणों से बिदा, जननी से बिदा, वत्स! तुझसे भी बिदा! लौटूँगा तो तेरा मुखचुम्बन करूँगा, अब—

कहीं एकान्त बन में बैठकर आसन लगाऊँगा
बिछौना धूलि का सोने को पृथ्वी पर बिछाऊँगा
दया को, धैर्य को, सन्तोष को साथी बनाऊँगा
स्व-इच्छा से कोई पुण्यात्मा देगा तो खाऊँगा
मैं अपने लक्ष्य को, मंतव्य को, जबतक न पाऊँगा
न आऊँगा यहाँ पर, उस समय तक, मैं न आऊँगा

[सिद्धार्थ चले जाते हैं। गोपा सोते-सोते चौंककर उठती है और सिद्धार्थ को सूनी शय्या देख कर, घबराती है]

गोपा—हूँ ! यह क्या ? सूनी शय्या ! प्राणनाथ कहाँ गए ? (घबराकर पलग से उतरती है) धाय ! धाय ! अरे कोई दौड़ो । देखो मेरे प्राणाधार कहाँ हैं । दासियो ! कहाँ मर रही हो ? क्या कर रही हो ? (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे ! यह तो द्वार भी खुला पड़ा है । गए ! निश्चय गए !!

[धाय और दासियाँ दौडी हुई आती हैं]

धाय—क्या है ? बहूरानी ! क्या है ?

गोपा—धाय ! इस समय मेरा मन विक्षिप्त हो रहा है। तुम बालक के पास रहो । देखो, वह अकेला सो रहा है ।

दासियाँ—हम वारी, बलिहारी, प्यारी ! बताओ तो ऐसी क्या घबराहट है ? काहे की चिन्ता है ?

गोपा—सखी ! मेरे प्राणपति मुझे छोड़कर कहाँ चले गये ? देखो उनकी सेज सूनी पड़ी है ।

पहली दासी—अजी नहीं, यहीं होंगे, यह कही जाने का समय है , हँसी से छिप गये होंगे ।

गोपा—नहीं, मैंने अभी-अभी स्वप्न में देखा है कि पति भिक्षुक का वेष किये देश विदेश फिर रहे हैं ।

दूसरी दासी—युवरानी ! आप इतनी क्यो घबराती है, देखिये हम अभी ढूँढ़ कर लाती हैं ।

गोपा—हाँ जाओ, ढूँढ़ो, पता लगाओ, पहरे वालो से पूछो, सैनिको को दौड़ाओ, पिताजी को भी यह सूचना दो । (कुछ दासियाँ जाती हैं) परन्तु अब क्या रखा है, सब वृथा है । वह तो

चले गये, चले गये ! क्यों नाथ ! क्या आपका यही व्रत था ? आप तो मुझे अपनी अर्द्धांगिनी बताया करते थे, जीवन-संगिनी कहा करते थे। क्या इसी दिन के लिये ? हाय ! जड़ पत्थर के समान फेंककर चले गये। यदि दासी से कुछ अपराध भी हुआ था तो कोई और दंड देना था, और फिर, अपराधिनी हूँ तो मैं हूँ; यह आपका बालक तो निर्दोष है। विधाता ! यह क्या किया राजकुमार को भिक्षुक बना दिया ? जिस शरीर पर केशर, चंदन आदि सुगंधित उबटने मले जाते थे, उस पर अब विभूति लगाई जायगी, क्या फूलों की शय्या पर सोनेवाले को कठिन पृथ्वी पर निद्रा आयगी ? छत्तीस प्रकार के पदार्थ खानेवाले अब बन-फल और भिक्षा के टुकड़े खायँगे ? एक फटे पुराने वस्त्र में शीत और ताप बितायँगे ?

१ दासी—बहूरानी ! क्या कह रही हो ? भगवान न करे जो उनके बैरियों पर भी ऐसी बिपदा पड़े।

गोपा—अच्छा तो बुलादो, बुलादो, मेरे प्राणेश्वर को बुलादो, नहीं तो इस प्रमोद—, भूली-भूली, शोक-भवन में आग लगादो, मेरे लिये चिता बनादो। (उन्मत्त-सी होकर)

प्राणनाथ ! तुम बिनु जगमाहीं
मोहि सुखद कतहुँ कोउ नाहीं
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी
तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी

बहुत होली, बस बहुत होली; हँसी तो थोड़ी ही देर की

अच्छी होती है। देखो अब प्रकट हो जाओ, नहीं तो यह दासी प्राण खोती है। मेरा हृदय बहुत की कोमल है; तुम्हारे वियोग का दुःख अब अधिक नही उठाया जाता। आँसू कैसे पोछूँ? हीरा जान-बूझ कर नही खाया जाता। मै तो केवल तुम्हारे ही आश्रय थी. सो तुमने यह गति की। प्रियतम! यह न समझ लेना कि मै दुःख से घबराती हूँ, कष्ट उठाना नही चाहती। सह सकती हूँ, यह भी सह सकती हूँ; किन्तु अपने स्वामी को निर्दयी कहलाना नही चाहती। (चौंककर) सखी! सखी! देखना उधर तो नही हैं, मैं देखूँ, इधर तो नही हैं।

(चली जाती है)

पहिला अंक

दसवाँ दृश्य

राजभवन

[राजा शुद्धोदन मलिन-मुख आते हैं]

राजा—चला गया, मेरा सिद्धार्थ चला गया ! बेटा ! तुम बड़ेही हठीले निकले। तुम्हे माता-पिता के बुढ़ापे पर दया न आई। विधाता ! क्या तुमसे किसी का हर्ष नहीं देखा जाता ? कोई निस्संतान होने के कारण आँसू बहाता है, किसी का पुत्र-वियोग के दुख से हृदय फटा जाता है ; क्या तुम्हे मनुष्य के दुखी रहने ही में आनन्द आता है ?

[दो दासियों के साथ रानी गोतमी का प्रवेश]

रानी—(घबराई हुई) कहिए नाथ ! मेरे बालक का पता चला ?

राजा—(लम्बी साँस लेकर) नही ! अभी तक कोई लौटकर नहीं आया ।

रानी—कौन आता, किसी के कलेजे को लगी होती तो कोई आता। दूसरे के दुख की किसको चिन्ता होती है, बेटे की माँ को ही ममता होती है। परमात्मा ! क्या मुझ जनम-जली का जन्म संसार में इसीलिये हुआ था ? मेरे ही भाग्य में यह देखना बदा था ? बहन माया ! तू बड़ी भाग्यवती रही, पुत्र-वियोग का दुख न देखा ; पहले ही चली गई। हाय ! न जाने मेरा लाल किस अवस्था में होगा ? (उन्मत्त सी होकर) कहाँ हो, मेरे लाड़ो के पाले, कहाँ हो ? मेरे अँधेरे घर के उजाले, कहाँ हो ? मेरी आँखों के तारे ! मुझे इस अंधकार में छोड़ कहाँ सिधारे ? बेटा ! तुम्हारे बिना अब यह भवन नहीं भाता, फाड़ खाने को आता है। पुत्र ! तुमने तो आज तक क्लेश का नाम भी नहीं सुना था, फिर बन में रहकर कैसे जीवन बिताओगे, वहाँ तुम्हारे खान-पान का कौन प्रबन्ध करेगा ? हाय ! मैं अपनी बहू का मन कैसे बहलाऊँगी, उसे क्या कह कर समझाऊँगी ? आओ, घर लौट आओ, मेरे प्राण जाते है, देखो मेरी छाती फटी जाती है। तुम निर्दयी तो नहीं हो ; बड़े दयाशील हो, तुम्हें तो संसार भर के जीवो पर दया आती है।

राजा—(कातर स्वर से) हाँ, आओ, बेटा ! एक बार तो लौट ही आओ ; अपने पिता के प्राण चले जाने पर चाहे फिर चले जाना। अरे, प्राण भी तो नही निकलते ! हा ! दशरथ ! तुम

बड़भागी थे, सच्चे सुत-अनुरागी थे। न जिये, न जिये : अंत को, पुत्र-वियोग में प्राण दे ही दिये।

[सिद्धार्थ के वस्त्र आभूषण लिये, छंदक आता है]

छंदक—जय जीव।

राजा—छंदक! तू आगया। (घबराहट से) और मेरा सिद्धार्थ कहाँ है?

रानी—अरे मेरे लाल को कहाँ छोड़ आया। मेरी कोख उजाड़ कर यह किसके वस्त्र ले आया? हाय! जिस रत्न को मैंने बड़े यत्न से रखा था, तू उसे एक क्षण में ही खो आया। (रोकर) वह मेरी आँखों का तारा, जीने का सहारा था। अरे, बता तो सही, उसने कुछ कहा भी है। किस बात पर रूठ कर गया है? (राजा से) प्राणनाथ! यह बात हो तो तुम्हीं चले जाओ, मेरे बालक को मना लाओ।

राजा—प्रिया! किसे मनाकर लाऊँ? किसे समझाकर लाऊँ? जो मुझे समझाकर गया है, उसे कैसे लौटाकर लाऊँ। छंदक सुनाओ, सुनाओ, सिद्धार्थ के बन-गमन का कुछ वृत्तान्त तो सुनाओ।

छंदक—नाथ! क्या बताऊँ, किस मुँह से वृत्तांत सुनाऊँ? आधी रात के समय युवराज ने घोड़ा मँगाया, मैंने बहुतेरा समझाया, परन्तु एक न मानी। राजधानी त्याग, बन की ओर सिधारे। अनुमा नदी के किनारे पर पहुँच कर वस्त्र और आभूषण उतारे। सिर के बाल काटकर फेंक दिये, आप पाँव-पाँव बन को हो लिये।

राजा—क्यों छंदक ! तू ने उसे किसी युक्ति से न समझाया ; सन्यास ही दिलाकर चला आया ?

छंदक—मैंने साथ चलने के लिये बड़ा ही आग्रह किया हाथ जोड़े, पाँवों में सिर दिया ।

राजा—अच्छा ! अच्छा !! फिर क्या कहा ?

छंदक—किसी प्रकार माने ही नहीं और यह कहने लगे कि 'यदि तू न जायगा, तो मेरे विरह-सागर मे डूबे हुए माता-पिता और मेरी स्त्री को बन-गमन का वृत्तांत कौन सुनाएगा, उन्हें कैसे संतोष आयगा ?'

राजा—फिर इसका तूने क्या उत्तर दिया ?

छंदक—मैंने कहा कि 'मैं नगर में जाकर पुरवासियों को क्या मुँह दिखाऊँगा ; महाराज पूछेंगे तो क्या बताऊँगा महारानी से क्या कहूँगा , बहूरानी को क्या कहकर समझाऊँगा ?'

रानी—फिर क्या बोला ?

छंदक—इसका यह उत्तर दिया कि 'जो शक्ति आप लोगों के हृदय में स्नेह रूप से रहती है, उसीकी निर्मल धारा मेरे हृदय में सेवास्वरूप होकर बहती है ।'

राजा—क्या मेरे बनवासी का यही अन्तिम संदेश है ?

छंदक—नहीं, इतना और कहा है

मैं जब उद्देश्य में उत्तीर्ण हो जाऊँगा, आऊँगा
फिर अपनी प्रेम-सेवा से जगत् का दुख मिटाऊँगा

बताऊँगा कि यह है सत्य और यह ज्ञान-ज्योति है
मनुष्यों की मनुष्यों से ही पूरी आस होती है

राजा—सिद्धार्थ ! हाय सिद्धार्थ ! तुमने धोका दिया । तुम बड़े कठोर-हृदय निकले । तुम तो अपने आपको पितृ-भक्त कहा करते थे, स्त्री बालक से भी बड़ा प्रेम किया करते थे, उसपर ऐसी निष्ठुरता ! (नेपथ्य की ओर देखकर) देखो रानी ! देखो, यह कौन आ रही है ।

रानी—और कौन होती ? आपकी पुत्र-बधू गोपा ही है ।

राजा—अखिलेश ! यह कैसा क्लेश ? स्वर्णलता बहू और सन्यासिनी का वेष । (रानी से) प्रिया ! मुझसे इस दुखिया की यह दुर्गति नहीं देखी जाती । हाय ! पति-वियोग से कैसी बावली हो गई है ; अब तो मेरे सम्मुख आती भी नहीं सकुचाती !

(पति-वियोग से उन्मत्त गोपा गाती हुई आती है)

गोपा— तन, धन, धाम, धरनि, पुरराजू
पति-विहीन सब शोक समाजू

(वेग से छंदक की ओर जाती है)

[सब आश्चर्य से और शोक-पूर्ण दृष्टि से देखते हैं]

लाओ छंदक ! यह मुझे लाओ, मेरे पति के वस्त्र, आभूषण मुझे लाओ । मैं इन्हें सिंहासन पर धरूँगी, हृदयासन पर धरूँगी ; मैं इनकी पूजा करूँगी ।

रानी—हाँ-हाँ ले जाओ, ले जाओ, अपने पति के वस्त्राभूषण ले जाओ ; परन्तु यह तो बताओ, ऐसा वेष रखने से तुम्हारा

क्या उद्देश्य है ? पुत्र-वियोग का तो मुझे भी क्लेश है ! बेटी ! मैं तो तेरा ही मुख देखकर अपना दुःख भुलाती हूँ, पुत्र की जगह पौत्र ही को छाती से लगाती हूँ ।

गोपा—माँ ! मेरे पति सन्यासी हो गये हैं, बनवासी हो गये हैं। मैं उनकी अर्द्धांगिनी हूँ, सहधर्मिणी हूँ। दूसरा धर्म कैसे रख सकती हूँ ? माँ ! जिनके आदर से मेरा आदर था, जिनके मान से मेरा मान ; मैं युवरानी कहलाती थी, माँग, चोटी करती थी, मेंहदी रचाती थी, वह कहाँ है ? बताओ कहाँ है ? अब यह प्रमोदागार मेरे लिए कारागार है, चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार है। (उन्मत्तता के वेग से) देखो माँ ! मेरी देह पर विभूति कैसी शोभा दे रही है, माँ ! मैं सन्यासी की स्त्री हूँ न ? देखो मैंने चूड़ियाँ नहीं उतारी हैं, सिर का सिंदूर दूर नहीं किया है ! माँ ! यह मेरा सुहाग है, यह उनका अनुराग है !

(गोपा का प्रस्थान)

राजा—छंदक ! तुम सुमन्त हो, मैं दशरथ हूँ, मेरा सिद्धार्थ राम है ; तुम उसे बन में छोड़कर आए हो । (उन्मत्तता के वेग से उँगली उठाकर) देखो, देखो इन्द्र की पताका, ओहो ! सारे नगर में ज्योति-ही-ज्योति फैली हुई है (क्षणभर चुप रहकर) सुनो, सुनो, यह दुंदुभी कैसी बज रही है । एँ ! श्वेत घोड़ों के रथ पर यह कौन आरहा है ? क्या मेरा सिद्धार्थ है ? आओ वत्स ! मेरी गोद में आओ, मेरे हृदय से लग जाओ ।

[राजा नेपथ्य में बढा चला जाता है, उसके पीछे और सब जाते हैं]

दूसरा अंक

पहला दृश्य

[सिद्धार्थ जामुन के वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाए समाधि में बैठे हुए हैं—दो और साधु जो उनको अपना गुरु मानने लगे हैं, आपस में आकर बातें करते हैं]

पहला साधु—महात्मा जी का साधन देख-देख कर तो चित्त चकित होता है। भैया! यह आत्मघात है, या तप है?

दूसरा साधु—उन्हें साधारण साधु या तपस्वी समझना ही मूर्खता है, भैया! यह आत्मा तो अवश्य कोई अवतार है, या देवता है। ऐसा वैराग्य और इन्द्रियदमन, ऐसा अचल और स्थिर मन आज तक देखने में ही नहीं आया।

पहला साधु—छः वर्ष से एक-आसन बैठे हुए हैं। पूस, माघ के जाड़े में जब मनुष्य की किड़किड़ी बँध जाती है, यह तब

भी इसी प्रकार रहते हैं। और ज्येष्ठ, आषाढ़ में धूप की तपन से जब टटड़ी सिक जाती है, तो यह उसे भी यहीं बैठे-बैठे सहते हैं।

दूसरा साधु—यह तो है ही; परन्तु क्षुधा का मारना भी क्या कोई सहज काम है! आठ पहर में एक झाड़ी का बेर भी कुछ आहार-में-आहार है?

पहला साधु—आहार का नाम है; तभी तो शरीर दिन-पर-दिन सूखता जा रहा है। देखो न! रक्त मांस का कहीं पता है? कोरा पिञ्जर-ही-पिञ्जर रह गया है।

दूसरा साधु—अहा! जिन दिनों महात्मा इस पहाड़ी पर आकर बैठे ही बैठे थे, तब कैसी दिव्य मूर्ति थी!

पहला साधु—स्वर्ण जैसी कांति थी। ग्राम में भिक्षा के लिए जाया करते थे, तो सैकड़ों स्त्री-पुरुष दर्शनों को दौड़-दौड़े आया करते थे, और इन्हें भोजन देने के लिए बड़े उत्सुक रहा करते थे। जहाँ-जहाँ इनके चरण पड़ते थे, लोग वहाँ की धूल को मस्तक से लगाया करते थे। एक और कैसी विचित्र बात है; इस बन में अनेक सिंह, चीते आदि हिंसक जन्तु घूमते फिरते हैं; परन्तु इनकी ओर वे आँख तक नहीं उठाते।

दूसरा साधु—दिगम्बर! तुम इस भेद को नहीं जानते। बड़े-बड़े सिद्ध पुरुष ऐसा कहते है कि जिन्हे हम तुम हिंसक जन्तु समझते हैं, वे वास्तव में देवता हैं, जो महाराज की रक्षा के लिए अनेक रूपों में विचरते रहते हैं।

पहला साधु— भूधर ! तू यह ठीक ही कहता है। तभी तो महात्मा के सिर पर आठों पहर सर्प फण फैलाए छाया किये रहता है।

दूसरा साधु—(आकाश की ओर देख कर) ओहो ! सूर्य तो सिर पर आगया और यहाँ अभी तक भोजन भी नहीं पाया।

पहला साधु—(आकाश की ओर देखकर) हाँ ठीक हैं ! भिक्षा के लिए चलना चाहिए। गृहस्थी क्या हमारे बाप के नौकर हैं, जो हमारी बाट में दिन भर भोजन लिए बैठे रहेंगे।

दूसरा साधु—और जब आचार्य समाधि से उठेंगे तो क्या कहेंगे ?

पहला साधु—आचार्य का न जाने तुझे क्यों खटका रहता है ? उनका कौन-सा काम हमारे बिना अटका रहता है ?

दूसरा साधु—हाँ चलो भी ; भिक्षा का समय हो ही चुका है, फिर डर ही क्या है ?

[दोनों शिष्य चले जाते हैं। सिद्धार्थ की समाधि खुलती है]

सिद्धार्थ—(स्वगत)शरीर दिन-पर-दिन क्षीण होता जा रहा है। इसी से आज सिर चकरा रहा है, जी घबरा रहा है।

मेरा उद्देश्य है कि ज्ञान ज्योति का मुझे दर्शन हो ; किन्तु न अब तक सत्य ही पाया है और न दुःख का ही मोचन हुआ है।

मुझे इस खोज में आज छः वर्ष से अधिक हुए। बड़े-बड़े यति, योगी, साधु, महात्माओं के चरण धोये। जिसने जैसी

शिक्षा दी, मैंने वैसी ही तपस्या की ; योग साधन भी किया, आहार भी घटाया, अनेक प्रकार से शरीर को कष्ट पहुँचाया, परिणाम कुछ न पाया। जब तक समाधि लगी रहती है, तब तक तो मन एकाग्र रहता है, किन्तु फिर उसी उधेड़-बुन में पड़ जाता है। कुछ ही क्यों न हो, जिसके लिए गृहस्थ का नियम तोड़ा, प्रेमियों का प्रेम तोड़ा उसे प्राप्त ही करके छोड़ूँगा। इस पथ से पता नहीं लगता है, तो मन की गति को किसी दूसरी ओर मोड़ूँगा।

[उठकर चलते हैं , किन्तु दुर्बलता के कारण चकराकर गिर पड़ते हैं। आकाश से उतर कर देव-कन्यायें गीत गाती हैं]

जुगत की वीणा बजै तो विजय है ,
देह दमन की नय दुखमय है ;

जैसे ढीले तार की बीना ,
बजै न निकलै सुर रस भीना।
ऐसे ही अधिक खींचने से भी ,
तार टूट जाने का भय है।
जुगत की . ...
समतांगुली से जब यह बजेगी ,
तभी मधुर झंकार उठेगी ;
जगत को उससे ही शान्ति मिलेगी।
'व्याकुल' की प्रभु येही विनय है।
जुगत की... . ...

[देवकन्यायें अन्तर्हित हो जाती हैं]

सिद्धार्थ—कैसा शिक्षाप्रद संगीत है! इसका मर्म बड़ा ही गूढ़ है, पुनीत है। निस्संदेह मैं अपने जीवन के तार को, जिससे मेरा प्रयोजन है कि ऐसा राग निकाला जाय, जो वैराग्य उत्पन्न कराय, मोक्ष का मार्ग बताय, अत्याधिक खींच रहा हूँ। यह नहीं सोचता कि प्राण होंगे तो ज्ञान होगा, मन होगा तो वैराग्य भी उत्पन्न होगा; जैसे भोग की तृष्णा विष के समान है, ऐसे ही देह-दमन करना भी अज्ञान है। जब कि मेरे शरीर में न तो बल है, न शक्ति है, कहीं समाधि से भी ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है? (वृक्षों से) क्यो! हे ऊँचे-ऊँचे वृक्षो, क्या तुम ऐसा कोई भेद जानते हो कि जो तुम अपनी छोटी अवस्था से, फल लाने के समय तक, सन्तोष से बढ़ते चले जाते हो? कभी इस शरीर को कष्ट देने अथवा नष्ट करने का ध्यान भी नहीं करते? धूप के समय धूप खाते हो और शीत के अवसर पर शीत सहते हो। सदैव अपने धर्म को हर्ष से पालन करते हुए सुखी रहते हो। मुझे तुमसे उपदेश लेना चाहिए। आज से इस देह-दमन और अल्पाहार के बिचार को त्याग देना चाहिए; परन्तु यह जभी हो सकता है कि कोई मेरी सहायता करे, मुझे खाने के लिए ऐसी वस्तु मिले, जिससे शरीर का बल बढ़े।

[कुछ स्त्रियाँ गाती हुई आती हैं]

(गाना समाप्त होने पर)

पहली स्त्री—सखी! यहाँ तो वन-देव आज स्वयं आ पधारे।

दूसरी स्त्री—धन्य भाग हमारे !

तीसरी स्त्री—(दूसरी से) हमारे पुण्य का सूर्य उदय हुआ है, जो वन-देवता ने सदेह दर्शन दिया है।

चौथी स्त्री—तो अब आओ, देर मत लगाओ। देवता का पूजन करो और चढ़ावा चढ़ाओ।

(पूजा की थाल सिर से उतार सिद्धार्थ के आगे रखती हैं)

सिद्धार्थ—भोली बहनों ! तुम मुझे वन-देवता समझ कर पूजा करना चाहती हो तो धोखा खाती हो। मैं तुमसे सच कहता हूँ कि मैं कोई वनदेवता नहीं हूँ; एक तुम-सा ही साधारण मनुष्य हूँ, इसलिए मैं निवेदन करता हूँ कि तुम मुझे देवता जानने की अपेक्षा एक दीन, बलहीन मनुष्य समझ कर मेरी सहायता करो। मुझे खाने के लिए कोई ऐसी वस्तु दो जो शरीर में बल प्रदान करे, जिससे मेरी मनोरथ सिद्धि में रुकावट न पड़े।

दूसरी स्त्री—तपस्वीजी ! वैसे तो दासी बड़ी उत्तम खीर बनाकर लाई थी; परन्तु आपको देवता समझ कर भेंट करने आई थी।

सिद्धार्थ—तो क्या किसी भूखे मनुष्य को खिलाने में पाप है ?

दूसरी स्त्री—नहीं; किन्तु एक बड़ा सन्ताप है। इन हाथों से, जो इस जन्म में उत्तम-से-उत्तम कर्म और कठिन-से-कठिन प्रायश्चित्त करने पर भी नीच के-नीच ही रहेंगे, एक महात्मा

श्रमण को भोजन कराती हुई सकुचाती हूँ, क्योंकि मैं शूद्र-जाति हूँ।

सिद्धार्थ—जिन हाथों से देवता को भोग लगा सकती हो, क्या उन्हीं से किसी महात्मा और श्रमण को भोजन नहीं खिला सकती हो ?

दूसरी स्त्री—देवता तो मनुष्य-मात्र के उपास्य और पूज्य हैं। वे ऊँच-नीच, छूत-अछूत का भेद नहीं जानते। सबको बराबर मानते हैं।

देखिये—

> प्रकाशित तेज से जिस सूर्य के मन्दिर शिवाला है,
> उसी का शूद्रों के झोपड़ों पर भी उजाला है ;
> बरसती है घटा जो रम्य और सुन्दर निकेतों में,
> उसी से अन्न होता है हमी नीचों के खेतों में।

पहली स्त्री—इसके अतिरिक्त, भगवान् रामचन्द्र ने भीलनी के जूठे बेरों का भोग लगाया। प्रेम का कैसा आदर्श दिखाया !

चौथी स्त्री—और निषाद से नीच मनुष्य को, जिसकी छाया से भी उस समय के लोग बच कर चलते थे, अपने हृदय से लगाया।

सिद्धार्थ—एँ, पूज्य और पुजारी में इतना भेद ! खेद !

दूसरी स्त्री—भेद तो यहाँ तक है कि यदि कोई द्विज कुएँ पर स्नान करता हो और नीचे खड़ा हुआ कोई शूद्र या चाण्डाल प्यासा मरता हो, तो उसे कभी कोई जनेऊ-धारी, अशुद्ध हो जाने

पाप होता है। ऐसा करने वाला दूसरों के लिए ही नहीं, अपने लिए भी काँटे बोता है; क्योंकि वह अपने ही विचारानुकूल यदि कर्मवश नीच जाति में जन्म लेगा, तो इसी प्रकार अपनी इच्छाओं को दमन करता हुआ सङ्कट भोगेगा।

पहली स्त्री—परन्तु, भगवन्! वह लोग तो ऐसा नहीं सोचते; शूद्रों को तो बलि का बकरा समझते हैं।

सिद्धार्थ—ऐसा नहीं सोचेंगे तो अपने किये को भोगेंगे। मेरी आज की बात याद रखना कि यदि इन लोगों का यही जातीय अहंकार इसी प्रकार मनुष्य घृणा के अत्याचार को बढ़ाता चला जायगा, तो एक दिन ऐसा आयगा, जब कि विदेशी-जनों की ठोकरें इस अनुचित असार गर्व को पद-दलित कर चूर-चूर कर डालेंगी। गिन-गिन कर तुम्हारे बदले निकालेंगी।

दूसरी स्त्री—सखी! हमें अपने जीवन में आज यह पहला ही अवसर मिला है, जो एक महात्मा के मुख से ऐसा न्याय-भरा वाक्य सुना है। हाँ महात्मन् (बुद्ध से) तब तो जन्म से जात-पाँत की बड़ाई मानना वृथा है। जो नीच कर्म करता है, वह शूद्र है और जो उत्तम कर्म करता है, वही द्विजन्मा है।

सिद्धार्थ—हाँ, यही बात है; इसलिए तुम इसकी चिन्ता न करो। मुझे खाने के लिए खीर दो। तुम्हारी सहायता से यदि मेरी अभिलाषा का बेड़ा इस चिन्ता-रूपी समुद्र से पार हो जायगा, तो तुम्हारे साथ सारी शूद्र-जाति का निस्तार हो जायगा, उद्धार हो जायगा।

दूसरी स्त्री—यदि इन दासियों के हाथ के भोजन में आप दोष नहीं समझते तो लीजिए—

लगायें भोग और पावन करें इस पात्र को भगवन्
सराहेंगे हम अपने भाग्य को, होगा सफल जीवन

[सिद्धार्थ खीर का कटोरा लेकर भोग लगाते हैं, दूसरी ओर से चेले आते हैं]

पहला चेला—(दूसरे से) लो भाई ! आज तो आचार्य खीर उड़ा रहे हैं।

दूसरा चेला—और यह भी देखा, कि किसके हाथ की खा रहे हैं।

पहला चेला—एँ ! यह लच्छन तो अच्छे नहीं ; सारा करा-कराया नष्ट हो गया।

दूसरा चेला—बस जी, आचार्य का आचार तो भ्रष्ट हो गया।

पहला चेला—तो अब यहाँ क्यों खड़े हो ? छोड़ो भी, इन्हें आहार करने दो।

दूसरा चेला—हाँ जी ! ठीक है, चलो।

[दोनो जाते हैं]

पहली स्त्री—सखी ! आज तो हमारा कोई पूर्व संस्कार ही सामने आया, जो ऐसी पवित्र आत्मा ने हम-सी तुच्छ स्त्रियों के हाथ का भोजन पाया।

दूसरी स्त्री—हाँ, है तो अनोखी बात ! (सिद्धार्थ भोजन समाप्त करते हैं) लाइये भगवन्, अब इस पात्र को मुझे दीजिये। आज से

हमारा परिवार इसकी पूजा किया करेगा, क्योंकि इसमें एक प्रत्यक्ष और निरपेक्ष देवता ने भोग लगाया है। हम-सी अभागिनियों को कृतज्ञ किया है, अपनाया है।

(कटोरा लेकर सब स्त्रियाँ पृथ्वी पर माथा टेकती हैं)

सब—जय हो ! पतित-पावन, आप की जय हो ! अधम-उधारन आप की जय हो।

[जाती हैं]

दूसरा अङ्क

दूसरा दृश्य

— वन —

[वही दोन साधु, जो सिद्धार्थ को शूद्रों के हाथ की खीर खाते हुए देख, छोड़कर चले आये हैं, खड़े हुए बातें कर रहे हैं।]

भूधर— कहो भइया! अब क्या कहते हो? गुरुजी की ओर से तुम्हारा कैसा विचार है?

दिगम्बर—बस जी अब यहाँ रहनेवाले और उनकी सेवा करनेवाले को धिक्कार है!

भूधर—मित्र! लोभी के पास रहने से लोभ ही बढ़ता है।

दिगम्बर—और उनके तो आचार में भी भ्रष्टता है।

भूधर—यह तो है ही। उनके लिए तो आज खीर, कल रबड़ी, परसों मोहनभोग— अब तो ऐसे ही पदार्थ आया करेंगे।

दिगम्बर—और हम ?

भूधर—हम क्या नीच-शूद्रों के हाथ का खाया करेंगे ?

दिगम्बर—परन्तु भइया ! गुरुजी से तो ऐसी आशा थी नहीं ; हम तो उन्हें बड़ा महात्मा और सिद्ध समझते थे।

भूधर—नहीं तो इतने दिन सेवा ही क्यों करते ?

दिगम्बर—तुम यह तो सोचो, इतने दिन बिना खाये कोई कैसे रह सकता है ?

भूधर—छः वर्ष तो क्या, हमसे छः दिन भी नहीं रहा जाय।

दिगम्बर—भइया ! अगले ही दिन मूर्च्छा आ जाय।

भूधर—तो अब क्या करने का विचार है ?

दिगम्बर—अब तो काशी चलने का संकल्प है।

भूधर—अच्छा ! काशी ! श्री विश्वनाथ काशी। जहाँ बहत गंगा, वहीं मुक्ति-राशि !

दिगम्बर—क्यों भाई ! काशी में खान-पान का क्या ज्ञान रहेगा ?

भूधर—अरे ! काशी में ज्ञान ? रात-दिन मेवा मिष्ठान्न !! भइया,

रंगे वस्त्र, सिर घोटम-घोटा,
हाथ कमण्डल और एक सोटा,
फिर कैसा भोजन का टोटा ?

और फिर आजकल तो वहाँ वाममार्ग का प्रचार है।

दिगम्बर—वाममार्ग से हमारा क्या उपकार है ?

भूधर—उपकार! क्या तुमने उनके पंथ का श्लोक नही सुना?

दिगम्बर—हाँ, मुझे एक श्लोक याद है—

अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः, सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला, विचरन्ति महीतले॥

भूधर—अजी, तुम्हें क्या याद होगा ? श्लोक तो यह है, जिसमें आनन्द-ही-आनन्द भरा है—

मद्यं मासं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ,
एते पंच मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे।

दिगम्बर—तब तो पाँचो घी में हैं; किन्तु वहाँ पहुँचने तक मार्ग में भी तो कुछ खायँगे।

भूधर—बावले! गृहस्थियो को कृतार्थ करते-करते पहुँच ही जायँगे। हमारे हाथ में तो सोने का कटोरा है।

दिगम्बर—हाँ जो ब्राह्मण के बालक हैं; यह गौरव क्या थोड़ा है।

भूधर—(नेपथ्य की ओर देखकर) लो अब यहाँ से उड़ंचु हो। देखो सामने से वही लोभी महाराज आ रहे हैं।

[दोनो जाते हैं, सिद्धार्थ का प्रवेश]

सिद्धार्थ—अरे! यह धूल कैसी? कहीं आँधी तो नहीं आ रही है? (ठहरकर) नहीं, आँधी नहीं; आँधी के साथ तो

पवन का वेग बढ़ जाता है। (फिर देखकर) ओ हो ! भेड़ों का रेवड़ आ रहा है। ऐसा क्या समय हो गया ? यह अभी से ग्राम की ओर क्यों जा रहे हैं ? (फिर देखकर) हाय ! हाय ! कैसा निर्दयी गड़रिया है। भेड़ों को चलते-चलते भी मारता है। यह लो ! उस लँगड़े मेमने पर भी विपता आई। (चिल्लाकर) अरे क्यों भाई ! यह तो आपही लँगड़ा है, इस बच्चे को क्यों मारते हो ? तुम तो बड़े ही कठोर-हृदय हो।

गड़रिया—(बच्चे को मारता हुआ आता है) महात्मा ! भेड़ों की प्रकृति आप नहीं जानते। इस मेमने के रुक-रुक कर चलने से रेवड़-का-रेवड़ अटक-अटक कर चलता है। जितनी देर होती है, उतना ही मेरा कलेजा दहलता है।

सिद्धार्थ—ऐसी शीघ्रता से तुम कहाँ जा रहे हो ? अपनी तनिक-सी जल्दी के कारण एक भोले पशु को क्यों सता रहे हो ?

गड़रिया—महाराज ! आज हमारे राजा वार्षिक यज्ञ कर रहे हैं; इसलिए हर एक गड़रिये से एक-एक सहस्र भेड़-बकरी ली जायँगी और बलिदान की जायँगी।

सिद्धार्थ—एक-एक सहस्र ! ऐसे कितने पशु बध किये जायँगे ?

गड़रिया—हम लोगों से तो एक लाख लिए जायँगे।

सिद्धार्थ—तो इसी कारण तुम जल्दी कर रहे हो ? अच्छा, चलो, मैं तुम्हारे इस बच्चे को गोद में लिए हुए रेवड़ के आगे-

आगे चलूँगा। विलंब न होने दूँगा। तुम्हारा प्रयोजन भी सिद्ध हो जायगा; इसे भी कष्ट न होने पायगा।

[बच्चे को उठाने नेपथ्य मे जाते हैं]

गड़रिया—छोड़ दीजिये। इसे छोड़ दीजिये! साधुजी, आप क्यों परिश्रम उठाते हैं? रेवड़ को तो हम मार-पीट कर ले हो जाते हैं।

[सिद्धार्थ बच्चे को गोद में उठाकर लाते हैं]

सिद्धार्थ—मार पीट कर! क्यों भई? यदि तुम्हारे पाँव में चोट लग जाय या कोई काँटा चुभ जाय और उस समय तुम्हारा स्वामी तुम्हारे दुख की चिन्ता न करे, ऐसे ही जल्दी चलने के लिये कहे, तुम पर हाथ उठाये, तो बताओ तुम्हें कुछ दुःख होगा या नहीं?

गड़रिया—होगा, महाराज! क्यों नहीं होगा?

सिद्धार्थ—तो ऐसे ही दूसरों का दुःख जानना चाहिये। अपने समान इस कोमल जीव को भी मानना चाहिये।

गड़रिया—महाराज! भेड़ तो मुँडने ही के लिए हैं। संसार में छोटा बनना और निर्बल होना ही आपत्ति है। आप जाइये; अपनी तपस्या में ध्यान लगाइये, इन पशुओं के पीछे समय न गवाँइये।

सिद्धार्थ—नहीं भाई! मैं इस बच्चे को तो ले ही चलूँगा। वरन्, जहाँ तक हो सकेगा, तुम्हारे सारे जिह्वाहीन जीवों की सहायता भी करूँगा। मेरी तपस्या को इससे कुछ हानि नहीं

होती। जो लोग गुफाओं और मन्दिरों के एकान्त में बैठे-बैठे मालाओं की गिन्ती गिना करते हैं, या रात-दिन प्रार्थना ही किया करते हैं, उनके जीवन की अपेक्षा मैं ऐसा जीवन श्रेय समझता हूँ जो दूसरों का दुःख दूर करने के लिए तत्पर रहता हो।

गड़रिया—महाराज की जैसी इच्छा!

[दोनों जाते हैं]

दूसरा अङ्क

तीसरा दृश्य

राजा बिम्बसार की यज्ञशाला

[ध्वजा, पताका और बन्दनवारो से मण्डप सजा हुआ है, मण्डप के चारों कोनों पर केले के चार वृक्ष खड़े हैं। बीच में वेदी बनी हुई है। वेदी के एक कोने की ओर सोने का कलश रखा हुआ है। वहीं दीपक जल रहा है। वेदी के निकट ही हवनकुंड हैं, जिसके चारों ओर चार ब्राह्मण मस्तक पर लाल लाल तिलक लगाये, बैठे, आहुति दे रहे हैं। दूसरी ओर एक काठ की चौकी पर बैठे यज्ञेश्वर हवन करा रहे हैं। दायाँ हाथ गो-मुखी मे पडा हुआ है। आगे शास्त्र खुला हुआ रक्खा है। बाये हाथ से पन्ने लौटाते जा रहे हैं। थोडी ही दूर हटकर, सोने के सिंहासन पर राजा बिम्बसार रानी-सहित विराजमान हैं। आस-पास प्रधान और मंत्री खडे हैं। पीछे सेवक चँवर और मोरछल डोला रहे हैं। हवन-कुड से बचे हुए, एक ओर, कुछ पशु भी खड़े हुए हैं]

यज्ञेश्वर—(मन ही मन कुछ पढकर) **स्वाहा !**

चारों ब्राह्मण—(हाथ में लिया हुआ चरु अग्नि में डालकर) स्वाहा !

[यह क्रिया इसी प्रकार तीन बार और की जाती है]

यज्ञेश्वर—प्रधान जो ! पूर्णाहुति का समय आ गया। शमनक कहाँ है ? उससे कहिये सावधान रहे, बलिदान का ध्यान रहे।

[एक बड़ा हृष्ट-पुष्ट वीर ब्राह्मण मस्तक पर लाल तिलक लगाये, हाथ में खड्ग उठाये आता है]

शमनक—सावधान हूँ। कृपानिधान सावधान हूँ। आप अपनी क्रिया समाप्त कीजिये ; फिर मेरे हाथों की फुरती देख लोजिये। खड्ग उठाया और भैंसे का सिर पृथ्वी पर आया।

प्रधान—क्यो नहीं ! परन्तु आज एक लाख पशुओं की बलि दी जायगी।

शमनक—सब देखी जायेगी। भेड़ बकरियों का भी कुछ बलिदान है ; मेरे लिए तो यह गाजर मूली के समान है।

यज्ञेश्वर—(राजा की ओर) अच्छा राजन्, उठिये, पहिले बलि का पूजन कीजिये।

[एक ब्राह्मण पूजन की थाली उठाता है। यज्ञेश्वर अपने आसन से और राजा अपने सिंहासन से उठते हैं। इतने ही में द्वारपाल आता है]

द्वारपाल—धर्मावतार ! एक अद्भुत, अनूप, मनोहर, दिव्यस्वरूप गड़रिया आ रहा है। साथ में कुछ भेड़ बकरी भी ला रहा है। न जाने, उसके पोछे, मनुष्यों का दल-का-दल क्यों चला आ रहा है !

राजा—ऐसा गड़रिया है ! तो जाओ उसे हमारे सम्मुख लाओ ।

[द्वारपाल जाता है, और राजा बलि का पूजन करते हैं]

यज्ञेश्वर—(आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर) हे आकाश-पाताल, भू-मंडल के देवी-देवताओ ! आओ ! आओ !! और इन बलि किये हुए पशुओ के रक्त-मांस की वासना लेकर तृप्त हो जाओ; सन्तुष्ट हो जाओ; प्रसन्न हो जाओ । महाराज विम्बसार के सारे पापों को, होम में जाने वाले पशुओं के साथ, भस्म कर दो । साथ ही, पुत्र-जन्म से राजा-रानी की गोद भर दो ।

[शमनक भैंसे पर खड्ग छोड़ना चाहता है। सिद्धार्थ आते हैं , सब देखकर चकित हो जाते हैं]

सिद्धार्थ—ठहरो ! ठहरो !! ब्रह्म-वेषधारी, बधिक ठहरो ! जब तक मैं तुम्हारे राजा से इन जिह्वा-हीन जीवों की प्राणभिक्षा न माँग लूँ, उस समय तक ठहरो ।

राजा—(चकित होकर, स्वय) यह गड़रिया है या दया का अवतार ! इसके मुँह पर तो देवताओं का-सा चमत्कार है ।

सिद्धार्थ— (राजा से) राजन्, इस पशु-बध से आपका क्या प्रयोजन है ?

यज्ञेश्वर —तुम हमें बधिक बताते हो ? और हमारे यज्ञ को पशु-बध ?

सिद्धार्थ—क्षमा कीजिये ! आप तो बधिक से भी अधिक

हैं। यद्यपि जीवहिंसा सभी के लिए अन्याय है, तो भी बधिक का पैतृक-कर्म होने से एक व्यवसाय है। इसके सिवाय, न वह आप जैसा पंडित है; न विद्वान् है, न उसे इतनी बुद्धि है और न ज्ञान है। वह जो कुछ करता है सीधे स्वभाव से करता है। धर्म की आड़ लेकर छल-कपट से पेट नहीं भरता है।

यज्ञेश्वर—यह आप हम पर कटाक्ष करते हैं। क्या हम छल-कपट से पेट भरते हैं ?

सिद्धार्थ—यदि ऐसा नहीं है, तो क्यों इतने निरपराध पशुओं का नाश किया जाता है! इस रक्तपात से क्या हाथ आता है ?

यज्ञेश्वर—फिर वही रक्तपात! यह रक्तपात नहीं है, यज्ञ कहलाता है। इसमें देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जीवों का बलिदान किया जाता है।

सिद्धार्थ—देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जीवों का बलिदान! इसमें कोई युक्ति, कोई प्रमाण ?

यज्ञेश्वर—क्यों नहीं ?—वेद भगवान्।

सिद्धार्थ—वेद किसने बनाये हैं ?

यज्ञेश्वर—परमात्मा ने।

सिद्धार्थ—और इस दीन बकरी का बनाने वाला ?

यज्ञेश्वर—परमात्मा।

सिद्धार्थ—तो अब विचारो, धर्मात्मा! माली जिस वृक्ष को अपने हाथों से लगाता है, क्या उस पर कुल्हाड़ा चलता हुआ

देख कर हर्षाता है। कुम्हार अपने बनाये हुए मिट्टी के खिलोनों को टूटता हुआ देख कर कितना पछताता है ?

राजा—यह तो प्रतिदिन देखने में आता है।

सिद्धार्थ—तो जिस वनमाली ने इन पौधों को परवान चढ़ाया है, जिस प्रजापति ने इन खिलोनों को बनाया है, वह उन्हे नष्ट होता देख कर हर्ष करेगा, या शोक ?

राजा—शोक ! महाशोक !

यज्ञेश्वर—परमात्मा को छोड़िये। शक्ति की पूजा जहाँ की जाती है, वहाँ तो अवश्य बलि दी जाती है।

सिद्धार्थ—शक्ति क्या है ?

यज्ञेश्वर—शक्ति क्या है ! शक्ति ही से तो जगत् की उत्पत्ति है।

सिद्धार्थ—जो शक्ति सारे संसार को बनायेगी, वह तो जगत्-माता कहलायेगी ?

यज्ञेश्वर—अवश्य ! निस्संदेह !

सिद्धार्थ—तो फिर माँ होकर संतान को खा जाय, यह और भी अनीति है, और भी अन्याय है। यदि पशुओं के कष्ट से तुम्हारा कठोर हृदय नहीं पिघलता, तो क्या बलिदान करने में उन के शरीर से रुधिर भी नहीं निकलता ?

यज्ञेश्वर—क्यों नहीं निकलता ! इस रुधिर से ही तो मनुष्यों के पापों का प्रायश्चित्त होता है।

सिद्धार्थ—नहीं हो सकता ! कभी नहीं हो सकता ! नया पाप पुराने पाप के धब्बे को कभी नहीं धो सकता।

यज्ञेश्वर—इसमें नया पाप कैसा, जब शास्त्र कहता है—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वैदिक-विधि से पशुओं का मारना हिंसा नहीं है ?

सिद्धार्थ—क्यों, क्या खड्ग-प्रहार से पशुओं को वेदना नहीं होती ?

यज्ञेश्वर—वेदना कैसी ? यज्ञ में बलि दिया हुआ पशु कष्ट नहीं पाता, सीधा शिवलोक चला जाता है।

सिद्धार्थ—तुम्हारा यही विश्वास है ?

यज्ञेश्वर—हाँ, पूरा विश्वास है।

सिद्धार्थ—तो फिर अपनी ही देह क्यों न बलिदान करो, दूसरों को क्यों कष्ट देते हो ! स्वयं ही शिवलोक को प्रस्थान करो !

राजा—(सिद्धार्थ से) यथार्थ है, आपका आक्षेप युक्ति-संगत है। मैं इसे स्वीकार करता हूँ। (यज्ञेश्वर से) आचार्य जी, मौन क्यों हो ? महाराज की शङ्का का समाधान करो।

यज्ञेश्वर—राजन् ! इसमें तो शास्त्र ही प्रमाण है। इसका और क्या समाधान है ?

शमनक—बस जी ! जब आचार्य ही उत्तर देने में असमर्थ हैं, (हाथ से खड्ग फेंक कर) तो अब यह खड्ग कृपाण भी व्यर्थ हैं।

सिद्धार्थ—नहीं हो सकता। इसका किसी से समाधान नहीं हो सकता। प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं

हो सकता। और शास्त्र ही क्या आकाश से उतर कर आया है? ऐसे ही मांसाहारी, निर्दयी मनुष्यों ने बनाया है। राजन्! प्राण लेने को तो सब ले सकते हैं, परन्तु दे नहीं सकते। माता-पिता पुत्र को मृत्युशय्या पर पड़ा देखकर तन, मन, धन लगाते हैं; परन्तु क्या वह उसे कराल-काल के गाल से बचा लेते हैं? पत्नी पति के साथ सती होकर अपनी ही देह जला सकती है; किन्तु उसे नहीं जिला सकती। प्राण किसको प्यारे नहीं? छोटे से छोटे, तुच्छ से-तुच्छ जीव को भी जीवन प्यारा है। जहाँ दया है, वहाँ जीवन एक अमूल्य पदार्थ है; अमृत की धारा है। दया ही के कारण निर्बल को सुख मिलता है, और सबल को यश। मनुष्य जब अपने लिए देवताओं से दया की आशा करता है, तब इन जिह्वा-हीन पशुओं का, जो उसे देवता समझते हैं, किस लिए बध करता है?

राजा—धिक्कार है; ऐसे स्वार्थमय जीवन पर धिक्कार है!

सिद्धार्थ—और फिर जिन देवताओं को सात्विक-गुण-प्रधान, बड़ा ही दयावान बताया जाय, उन्हीं के नाम पर रक्त बहाया जाय! स्मरण रक्खो, प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म का आप ही उत्तर-दाता है, पापी अपने किये पर अवश्य पछताता है। इसलिए अपने तनिक से स्वाद के लिए, इतने जीवो का बध न करो। इस भिक्षुक की भिक्षा में इन जीवों का जीवन दान करो। यदि इन रसना-हीनों को बोलना आता, तो इनमें प्रत्येक यही कह कर चिल्लाता—'बचाओ! पृथ्वीनाथ, हमारे प्राण

बचाओ! इस खड्ग-प्रहार से बचाओ! दुष्टों के अत्याचार से बचाओ।' राजन्! यह पशु यहाँ से छुटकारा पायँगे तो, मुँह से न सही, हृदय से अवश्य ही आपको आशीर्वाद देते जायँगे।

राजा—भगवन्! मैं बड़ा ही निर्दयी, अन्यायी और पापी हूँ। अब तक अन्धकार में पड़ा उल्टा ही समझता रहा। आज आपके सत्य उपदेश से मेरे हृदय के नेत्र खुल गये। अब मैं समझ गया कि हिंसा के समान दूसरा पाप नहीं। जगत्‌गुरु, आप दयालु हैं, मेरे पाप क्षमा कीजिये। मुझे अपने चरणों में (चरण छूने को झुकते हैं और सिद्धार्थ हाथ पकड़ कर रोकते हैं) स्थान दीजिये। निस्सन्देह मैंने अपने स्वार्थ के लिए अनेक निरपराधी जीव मारे। तनिक सी कामना के वश होकर सैकड़ों प्राणी कृपाण के घाट उतारे। मै दोष का भागी हूँ; पूरा अपराधी हूँ; परन्तु यह जो कुछ मैने किया अपनी अज्ञानता से किया। इन धर्माचारियों को प्रेरणा से किया। पाखंडियों ने कभी सच्चा और सीधा मार्ग ही न बताया। जब कभी कष्ट और चिन्ता-निवारण के लिये उपाय कराया, तो राक्षसी और पैशाचिक यज्ञ कराया। (यज्ञकर्ताओं की ओर, क्रोध से) जाओ! पशुघातक असुरो, जाओ! मनुष्याकृति भेड़ियो, निकल जाओ! मेरी आँखों के आगे से टल जाओ। क्या पुरषाओं ने तुम्हें इसीलिये धर्म का नेता बनाया था? इसीलिये कुल-पुरोहित के पद पर बिठाया था?

सिद्धार्थ—शान्ति! महाराज शान्ति! जो हुआ सो हुआ। अपने अज्ञान से, चाहे इनके स्वार्थमय ध्यान से। यह जो कुछ

है, सब अज्ञानता ही का दोष है। अब इन लोगों पर वृथा रोष है।

राजा—(प्रधान से) प्रधानजी, खोल दो; इन निरपराधी जीवों के बन्धन, इसी समय, खोल दो। और आज ही हमारे सारे राज्य में घोषणा कर दो, बल्कि पत्थर के स्तम्भ बनवा-बनवा कर और उन पर यह विज्ञापन अंकित कराकर मुख्य-मुख्य स्थानों पर स्थापित करा दो—'आज से कोई, किसी प्रकार की, जीव-हिंसा नहीं करने पायगा। आज्ञा-उल्लंघन करने पर दण्ड दिया जायगा।'

[प्रधान पशुओं को खोल देता है]

दूसरा अंक

चौथा दृश्य

[आगे आगे सिद्धार्थ और पीछे पीछे कृष्णा आती हैं]

सिद्धार्थ—बहन ! मैंने तुम से जैसी राई के दाने लाने को कहा था, ले आई ?

कृष्णा—प्रभो, राई तो बहुत मिली, परन्तु जैसी राई आपने बताई थी, वह हाथ न आई !

सिद्धार्थ—क्यों कृष्णा, इतने बड़े ग्राम में क्या कोई भी घर ऐसा न निकला, जो मृत्यु के प्रहार से बचा हो ?

कृष्णा—यह ग्राम क्या, दयानिधान, मृत्यु का चक्र तो सारे संसार में चल रहा है। कराल-काल की अग्नि से सारा जगत् जल रहा है। मैं अपने बालक को छाती से लगाये, हाय ! हाय

करती घर-घर फिरती थी ; परन्तु जहाँ जाती थी, यही सुनती थी कि जीवित मनुष्यों की अपेक्षा मरों की सख्या अधिक है। कहीं पिता, कहीं माता और कहीं पुत्र मर चुका है। यह सुनकर मेरे घुटने टूट गये और मैं निराश होकर लौट आई।

सिद्धार्थ—कृष्णा, जिस समय मनुष्य अभिलाषा के हरे-भरे उद्यान को निराशा के हाथों उजड़ता हुआ देखता है ; जिस समय मनुष्य अपने संकल्पों से रचे हुए मनोराज्य को निष्फलता से बिगड़ता हुआ देखता है, तो उसके दुःख का अनुभव कौन कर सकता है ?

कृष्णा—मैं कर सकती हूँ, आप की दया से—मैं कर सकती हूँ। मैं अपने हृदय पर तीर खाई हुई, जब लोगों की ड्योढ़ी पर जाती थी, तो उनकी व्यथा पर उनसे अधिक आँसू बहाती थी।

सिद्धार्थ—ठीक है ; चोट खाये हुए मन की यही गति होती है। अच्छा, जब तुम निराश होकर लौट पड़ीं ?

कृष्णा—तब दुःख के भयंकर कानन में अकेली भटकती हुई का इस निराशा ही ने साथ दिया। मैंने अपनी डबडबाई हुई आँखों से देखा कि रात्रि अधिक हो जाने के कारण गाँव के दीपक कैसे झिलमिला-झिलमिला कर बुझते जा रहे हैं। उस समय मैंने जान लिया कि 'मनुष्य-जीवन भी एक बुझने वाले दीपक के समान है ; कृष्णा, तू मोह में अधी हो रही है, यही अज्ञान है।' इस बात को समझ कर मैंने अपने पुत्र को नदी के किनारे ले जाकर जल में बहा दिया।

सिद्धार्थ—धन्य, कृष्णा, धन्य ! मैंने तुम से राई मंगाई थी ; किन्तु तुम उस के बदले में अनमोल चिन्तामणि ले आई। मेरा भी यही अभिप्राय था। मै तुम्हें यही समझाना चाहता था कि सारा संसार इसी सिंह की दहाड़ से भय खा कर चिल्ला रहा है। कोई पुत्र के शोक में मर रहा है ; कोई स्त्री के वियोग में हा-हाकार मचा रहा है।

कृष्णा—भगवन्, इस लोक में जब कोई भी मृत्यु से नहीं बच सकता, तो फिर भी लोग किस लिये शोक में डूबे हुए हैं ?

सिद्धार्थ—मृत्यु से बचने का कोई उपाय नहीं कर सकता। मूर्खता और मोह से सब हाय-हाय कर रहे हैं। इस संसार के क्लेश से पीड़ित होकर, मूर्ख मन-ही-मन कुढ़ कर, अपने दुःख को बढ़ा लेता है ; विद्वान् प्रत्येक घटना को भवितव्यता समझ कर अपने मन को समझा लेता है ; परन्तु प्रकृति अपना नियम नहीं बदलती। जिस प्रकार, पके हुए फल को डाली से टूट कर गिरने का भय रहता है ; जिस प्रकार मिट्टी के खिलौने को बन कर बिगड़ने का भय रहता है ; इसी प्रकार जन्मधारी को मरने का भय रहता है। अज्ञानी हो या ज्ञानवान् हो, निर्धन हो या धनवान हो, सब को ही मृत्यु का आखेट होना पड़ता है। जो जन्म धारण करेगा, वह एक दिन अवश्य मरेगा। तुम्हारा पुत्र कल ही तुम्हारी गोद में मर चुका था ; यदि मेरे प्राण देने से भी उस में जीवन लौट आता, तो मैं निश्चय अपने प्राण देकर उसे बचाता। किन्तु नहीं ; जो शरीर शक्तिहीन हो गया, उसे कोई

नहीं उठा सकता ; मृत्यु की नींद में सोये हुए मनुष्य को कोई नहीं जगा सकता।

इसलिये अब तुम यहाँ से जाओ। संसार के पदार्थों में मोह मत बढ़ाओ और शान्ति के साथ जीवन बिताओ।

कृष्णा—(सिद्धार्थ के चरण छूती हुई) उपकार! भगवन्, उपकार!

[जाती है]

सिद्धार्थ—ममता और मोह एक ही वस्तु का नाम है; दोनों का एक ही गुण और एक ही काम है। जिस प्रकार मकड़ी अपने मुँह से तार निकाल कर जाला बनाती है, उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति भी अपने हृदय से ममता का तार निकाल कर मोह का जाल बिछाती है ; किन्तु इतनी विशेषता है—मकड़ी दूसरे जीवों को फँसाती है, और मनुष्य अपने आप को फँसाता है।

न जाने वह समय कब आयेगा, जब कि मैं जीवों को इस व्याधि की औषधि दे सकूँगा! क्या मेरा यह उद्योग निष्फल हो जायेगा? मन तो कहता है—नहीं, संशय नहीं करना चाहिये। ज्ञान-ज्योति से दुःख और अंधकार का नाश करूँगा ; जब तक जीवन है, निराश न हूँगा।

[जाते हैं]

[बायाँ हाथ अपनी प्रिया रति की गरदन मे डाले हुए, कामदेव अपनी सेना-सहित आता है]

कामदेव—जानती हो, प्रिये! आज हमारे यहाँ एकत्रित होने का कारण क्या है?

रति—नहीं, नाथ ! मैं कुछ नहीं जानती। दासी से तो आपने इतनी ही आज्ञा की थी कि—'निर्जना, सुप्रसिद्ध फल्गु नदी के तट पर, उर्वेल ग्राम के निकट, हमारी दुहिताओं सहित उपस्थित होना।' किन्तु अनुमान से इतना कह सकती हूँ कि किसी भोले-भाले तपस्वी के तप खण्डन के अतिरिक्त, और मेरे स्वामी का उद्देश ही क्या हो सकता है ?

काम—क्यों नहीं ! तुम क्या ऐसी-वैसी स्त्री हो ! अन्ततः, काम की अर्द्धांगिनी, अपने नाम की रति हो। परन्तु, प्रिया, यदि मैं ऐसा करता हूँ, तो बताओ इसमें मेरा दोष ही क्या है ? तपस्या और साधन करने वाला मनुष्य भी तो सब से पहले मेरे और मेरी शक्तियों ही के दमन करने के लिए उद्यत हो जाता है !

सब—यथार्थ है ! यथार्थ है !!

अहंकार—हाँ, संसार में सभी को अपना जीवन प्रिय है। जीवन की रक्षा के लिए सभी यत्न करते हैं, सभी युद्ध करते हैं—

सुख से बैठे बिठलाये यूँ कौन किसी से कब लड़ता है ?
साँप नहीं डसता है तब तक, जब तक पाँव नहीं पड़ता है।

क्रोध—जो ऐसा नहीं करता, संसार में उसकी स्थिति भी नहीं रहती। जिस मनुष्य ने, जिस जाति ने, जिस देश ने अपने जीवन के लिये, अपनी स्थिति के लिये, यत्न नहीं किया, उद्योग नहीं किया ; चिन्ता नहीं की ; शत्रुओं से बदला नहीं लिया, अवसर पाकर कार्य नहीं किया ; सदैव दया और क्षमा से ही काम लिया—वह नष्ट हुआ ; भ्रष्ट हुआ ; आज न मुआ, कल मुआ।

काम—यही बात है। इसी विचार से आज मैंने तुम सब को यहाँ एकत्रित होने का कष्ट दिया है।

बसन्त—(आगे बढकर) तो फिर क्या आज्ञा है?

काम—छः वर्ष का व्रत समाप्त कर, बोधिमार्ग को दूसरों के लिये सुगम बनाने के विचार से, आज बोधिसत्व, आहार करके, वह देखो उस वृक्ष के नीचे [और सब उचक-उचक कर उसी ओर को देखते हैं] सर्वज्ञता और बोधिपद को प्राप्त करने के लिये फिर आसन लगाकर बैठे है। और वह भी सबसे पहले हमारे ही दमन की चेष्टा कर रहे हैं। इसलिये हम सबको मिलकर उन पर वार करना चाहिये; शस्त्रप्रहार करना चाहिए।

रति—(घबराई हुई) डरना चाहिये! नाथ, डरना चाहिये!

काम—इतनी क्यों डरती हो, प्रिया?

रति—मुझे इस युद्ध से विजय की आशा........

काम—हैं? विजय की आशा नहीं? क्यों नहीं? जो मोक्षसाधकों को सुन्दर मनोहर स्त्रियों की विलास-पूर्ण भृकुटियों वाले कुटिल कटाक्ष से बाँधकर, डुगडुगी पर नाचने वाले बन्दर के समान नचा सकता है; जो प्रत्यक्ष शुक्राचार्य से नीतिज्ञ, धर्म और अर्थ का साधन करने वाले को भी नदी के वेगवान प्रवाह के समान बहाकर ले जा सकता है—उसी की ओर से तुम्हे ऐसी निराशा है, अचम्भा है; तमाशा है! प्राणेश्वरी, मेरे गौरव को देखो; मेरे महत्व को विचारो; पहले ही से साहस न हारो। उन्मत्त हाथी के मस्तक को विदारने वाले, प्रकुपित सिंह को

मारने वाले, तो बहुत से शूरवीर देखेभाले; परन्तु कामदेव का दमन करने वाला कोई भी देखने में नहीं आया, ब्रह्मा ने ही नहीं बनाया। सुन्दरी, जिनके बसन्त से सखा और सहायक हों, लोभ और मोह से पायक हों, अहंकार से सेनानायक हों; जिनकी कामना, तृष्णा सो दुहितायें; आश्चर्य है कि वह शत्रु पर विजय न पायें !!

बसन्त—(आगे बढ़कर) निःसन्देह ! यही बात है। मित्र, कुसुमाकर सदैव आपके साथ है। स्मरण कीजिये, जिस समय आपने साक्षात् त्रिलोचन महादेव पर आक्रमण किया था, उस समय भी इस सेवक ने ही आपका शुभागमन किया था—

तरु लोम के, भूमि पै झूम, सबै बर बेलिन सों लिपटाने लगे।
कल केलि के कोकिला कोकल हूँ मिल काम कथान को गाने लगे।
मचलाने लगे मन मोरन के, मधुकर गुंजार सुनाने लगे।
ललचाने लगे जिय जोगिन के, हिय सोगिन के सरसाने लगे॥

रति—स्वामी! दूध का जला छाछ को फूँक-फूँक कर पिया करता है; उस समय से त्रिपुरारि का तीसरा नेत्र मेरी आँखों में फिरा करता है!

काम—कुछ नहीं! कोई चिन्ता नहीं! युद्ध में दो ही बात हैं—जय या पराजय; फिर इसका क्या भय?

तृष्णा—(आगे बढ़कर) देवि! आप इतनी जो घबराती हैं, क्या अपनी दुहिता तृष्णा का प्रभाव भूले जातीं हैं?—

मुख पर झुर्री पड़ जाती हैं, केश धवल हो जाते हैं।
बिषयों से मन हट जाता है, अङ्ग निबल हो जाते हैं।

देह शिथिल होने लगती है, भाव सरल हो जाते हैं।
तब भी तृष्णा के बल से, मानुष चंचल हो जाते हैं।
एक से हो दो की इच्छा, और दो से दस की होती है।
सौ सहस्र भी हो जायें, तृष्णा नहीं बस की होती है ॥

कामना—(आगे बढ़कर) पिताजी, जब तक इस संसार में दुहिता कामना का आकार है, तब तक आपका प्राणी-मात्र पर पूर्ण अधिकार है! पाताल से आकाश तक मेरा ही विस्तार है; जिधर आँख उठाकर देखिये मेरी ही जय-जय-कार है! बालक मेरे लिये रोता है; युवक मेरे लिये प्राण खोता है; बूढ़ा भी मेरी ही आशा में जीता है। इससे अधिक क्या है—जीवमात्र मेरे ही स्तनो का दूध पीता है—

आयुष्, आरोग्य कहीं बनकर, यश अरु सम्मान कहीं बनकर,
कही पुत्र की अभिलाषा बनकर, धन धान्य का ध्यान कहीं बनकर,
कहीं पति की प्रीति में सीस धुनूं, वेदान्त का ज्ञान कहीं बनकर,
रहती हूँ कहीं भक्ति बनकर, मुक्ति निर्वाण कही बनकर।

रति—यह तो तुम दोनों ने अच्छा विचारा—एक और एक—ग्यारह!

अविद्या—(आगे बढ़कर) मेरा कर्त्तव्य सुनोगी, तो कहोगी—पौ बारह!

कामना—(आगे बढ़कर) हाँ! हाँ! आओ, बहिन अविद्या, तुम भी आओ।

तृष्णा—(मुँह बनाकर) और लो! चूनी भी कहे मुझे घी से खाओ!

अविद्या—(बुरा मानकर) मैं तो समझती थी कि बुद्धिमानों में गुण कर्म प्रधान होता है; परन्तु अब जाना कि, समय-अनुसार, इस सभा में भी गोरों का ही सम्मान होता है।

कामना—नहीं, बहिन, तुम तृष्णा के कहने पर न जाओ। यह बूढ़ी होने पर भी युवती ही बनी रहती है। तुम्हारे प्रभाव से अभी अनजान है; इसीलिये इसे इतना अभिमान है।

अविद्या—हाँ तो, मूर्खा कहीं को! यह नहीं जानती कि यह सब अविद्या ही का प्रताप है। जहाँ कहीं भी तृष्णा जाती है, वहाँ पहले अविद्या ही घर बनाती है—

दिन-दिन आयुष् घटती है नर बढ़ना जिसे बताते हैं।
जन्म, जरा, दुख, मरण देखकर भी शिक्षा नहीं पाते है॥
सारे छोटे, बड़े, मित्र, संबंधी मरते जाते हैं।
फिर भी जीने पर मरते हैं, मरने से घबराते हैं॥

यह सभी तो जानते हैं—

इन विषय भोगों को है इक दिन सभी को छोड़ना।
यह अविद्या ही तो है, उनसे ही फिर सिर फोड़ना॥

बसन्त—(आगे बढ़कर) कुसुमायुध, मैं इस बात को मानता हूँ कि आपका स्त्री-दल भी शक्तिशाली है; तो भी, स्त्री जाति अबला ही कहलाता है। इसलिये युद्ध जैसे भयकर और कठोर कर्म में इनसे सहायता लेते हुए हमें लज्जा आती है। निःसन्देह, इससे हमारा अपमान है।

क्रोध—(आगे बढ़कर) और फिर आप का पुरुष-दल भी तो कुछ ऐसा-वैसा नहीं—

प्रचंड अग्नि का पुंज हूँ मैं, प्रसिद्ध है क्रोध नाम मेरा ,
जलाता हूँ मैं उसी हृदय को कि जिसमें होता है धाम मेरा ;
प्रवेश करता हूँ जब मैं मन में तो लगती है दावानल-सी तन में ,
मिटाता हूँ शील शान्ति को मैं, प्रथम यह होता है काम मेरा ।

बस, जहाँ शान्ति गई और धैर्य को भगाया, फिर क्या था—वहीं दम्भ, द्वेष आदि मेरे साथियो ने आदबाया !

काम—क्यों नहीं ! क्यों नहीं ! तुम्हारे तेज के सामने कौन ठहर सकता है ? मुझे तुमसे बहुत बड़ी आशा है ।

लोभ—(आगे बढ़कर) महाराज, मुझ में भी कुछ थोड़ी-सी सामर्थ्य है । यदि हमारे बड़े भाई प्रचण्ड अग्नि के पुंज हैं, तो मैं भी जल का प्रवाह हूँ । मेरे बहाव के सन्मुख कौन ठहरने पाता है ? मेरा नाम लेते ही मनुष्य के मुँह में पानी भर आता है—

नर देखे, नारी देखे, चतुर और अनारी देखे ,
पंडित और पुजारी देखे—माया के मथन मे ;
दाता और दानी देखे, अह—अभिमानी देखे ,
ज्ञानी देखे, ध्यानी देखे श्रवण और मनन में ।
क्रोधी देखे, कामी देखे, नामी और अनामी देखे ,
योगी, प्राणायामी देखे, नगर और बन में ;
अगुनी और गुनी देखे, ऋषि देखे, मुनी देखे ,
पर वे न देखे जिनके लोभ न है मन में ॥

मोह—(आगे बढकर) कृपानिधे, मोह जाल प्रेम पाश से भी बढ़कर होता है। इसमें फँसकर मनुष्य बुद्धि और विवेक से हाथ धोता है; ज्ञान और विचार को खोता है ; आयु भर रोता है। चखने में सेवक का स्वभाव मीठा है; परन्तु प्रभाव बड़ा कडुआ है—

देह का नेह कभी हिय में, कभी गेह का मोह हृदय अकुलावे।
तात का, मात का मोह कभी, कभी चित्त में भ्रात की शंका आवे॥
नार का प्यार हो हार गले का, पंथ तजे और धर्म गँवावे।
ज्ञान रहे न गुमान रहे, जब 'व्याकुल' प्रान को मोह लुभावे॥

अहंकार—(आगे बढकर) आप लोगों का यश और पराक्रम तो अपार है ; परन्तु अहंकार का कितना अधिकार है, इसका भी कुछ किसी को विचार है ? मै पूछता हूँ कि जब मनुष्य विराग का व्यूह बनाकर और त्याग का कवच धारण करके बैठ जाता है, उस समय उसपर कौन प्रहार करता है ?

सब—(मिलकर)अहंकार !

अहंकार—मनुष्य जब मन-रूपी वाटिका में शील और सन्तोष के बिरवे लगाकर, क्षमा और शान्ति के फूल खिलाता है, तो वहाँ कौन विहार करता है ?

सब—(मिलकर) अहंकार !

अहंकार—इसके अतिरिक्त, यह कितनी बड़ी बात है कि काम का आदि केवल उन्माद और अन्त दुर्दशा है ; क्रोध का आदि अन्धा होना और अन्त पतन है ; ऐसे ही लोभ का आदि इन्द्रियोपासन और अन्त निकृष्टता है ; मोह का आदि भ्रम

और अन्त चित्तविक्षेप होता है। किन्तु अहंकार का आदि आत्म-प्रदर्शन और अंत सर्वनाश है।

इसी पर यह प्रसिद्ध सुभाष है—

सहज छुटे तिय नेह, कंचन छुटना सहज है
सहज त्यागनी देह, एक अह छुटना कठिन

काम—मित्रवरो, इसका कहना ही क्या है! सब जानते हैं। देवता तक हमारा लोहा मानते हैं। जहाँ आप पृथक्-पृथक् अपनी बड़ाई कर रहे हैं, वहाँ सत्त्प से, यूँ क्यो नहीं कहते कि हमारे गुणों की प्रशसा से तो शास्त्र के शास्त्र भरे पड़े हैं।

रति—परन्तु इस समय जो प्रश्न उपस्थित है, उसका क्या समाधान है; इसका भी किसी को ध्यान है?

क्रोध—मेरी समझ में तो बोधिसत्व पर प्रहार करने ही में कल्याण है।

स्वार्थ—निश्चय, उनके तप, व्रत, सयम, नियम सम्पूर्ण होने से हमारा तिरस्कार है।

पाखण्ड—तिरस्कार कैसा, संहार है।

बसन्त—तो फिर क्या विचार है?

काम—यही कि पहले किसे भेजा जाय।

रति—मैं तो इन कन्याओं का जाना ठीक समझती हूँ।

कामना तृष्णा आदि—(सब मिलकर) हाँ, हाँ, पहले हम जायँगी। किन्तु एक प्रार्थना है—उस समय ऋतुराज हमारी सहायता करें तो अच्छा है।

बसन्त—क्यों नहीं ! मैं तो सदैव तुम्हारे आगे-आगे चलता हूँ ।

कामना आदि—तब फिर क्या है ! हमारे एक ही विलासपूर्ण कटाक्ष से राजकुमार समाधि तोड़ देगा ; खड़ा हो जायगा, तपासन छोड़ देगा ।

स्वार्थ—और जो ऐसा न हुआ ?

रति—तो फिर मैं जाऊँगी, युवरानी गोपा का स्वरूप बनाऊँगी, पतिव्रता का प्रेम जताऊँगी, विनय करूँगी, मनाऊँगी, चरणों में शीश नवाऊँगी ।

काम—बहुत ठीक ! बहुत ठीक ! यह युक्ति बड़ी उत्तम रही । (मोह से) मोह, तुम इनके साथ जाना ; उनके पुत्र राहुल का वेश बनाना । देखना, जाने न देना ; मोह-जाल में फँसा हो लेना । (छिनभर सोचकर) और हाँ, यदि इनकी भी हार हुई ?

क्रोध, भय आदि—(सब मिलकर) तो फिर हम सब मिलकर उपद्रव मचायेंगे ; आँधी चलाकर, बिजली चमका कर, जल बरसा कर, अनेक प्रकार के भय दिखायेंगे ।

अहंकार—(काम से) महाराज, यह आप क्या कह रहे हैं ! स्वार्थ, संशय, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, भय—हमारा दल क्या कुछ थोड़ा है ?

काम—अच्छा, चलो और सब मिलकर कहो—

सब—(मिलकर) जय ! जय ! मन्मथदेव की जय !!

[सब जाते हैं]

दूसरा अंक

पाँचवाँ दृश्य

[एक निर्जन बन मे, बोधि वृक्ष के नीचे, पत्थर की शिलापर, बोधिसत्व ध्यान में बैठे हुए हैं। आकाश से देवता गीत गाते हैं]

बुद्ध—(आँखें खोलकर, प्रसन्नमुख) अहा, हा ! आज यह कैसे अपूर्व संगीत की मधुर ध्वनि मेरे कानों में आ रही है ! मुझे मनोरथ-सिद्धि का विश्वास दिला रही है; उत्साह बढ़ा रही है। जल, स्थल, आकाश, वायु द्वार पर कीर्तन कर रहे है कि आज पृथ्वी पर ज्ञान-ज्योति का प्रकाश होगा। पशु, पक्षी, जीव, जन्तु सभी कह रहे हैं कि आज हमारे दुःखों का विनाश होगा। वृक्षों की डालियों पर नई-नई कोंपलें आ रही हैं; छोटी-छोटी कलियाँ फूल-फल कर बता रही हैं कि आज अवश्य किसी नये भानु का उदय होने वाला है। यही कारण है कि कल तक मैं जिस संसार को दुःखागार समझता था, आज वही मुझे आनन्द भण्डार

प्रतीत हो रहा है। इसलिये इस समय मेरा भी कर्त्तव्य है कि मन से अपनी सब संशय-शंकाओं को हटाकर और सुख-दुःख की कामनाओं को चित्त से मिटाकर, यूँ ही अचल आसन लगाकर बैठा रहूँ—जब तक कि सद्-ज्ञान के दिवाकर का उदय न हो।

[बोधिसत्व आँखें बन्द करके फिर ध्यान में मग्न होते हैं।, फूलों का धनुष हाथ में लिये हुए कामदेव आता है। सारे वन में बसन्त ऋतु छा जाती है। मोर, कोयल आदि पक्षियों के बोलने का शब्द सुनाई देता है]

काम—(धनुष लेकर) यही है ! यही हैं ! मेरे बाणों के लक्ष्य, मेरी सेना के परम शत्रु—यही हैं। अन्धे संसार को ज्ञानचक्षु देने वाले, जगद्गुरु—यही हैं। यही आज सत्य का साक्षात करेंगे, जीवमात्र का उद्धार करेंगे। स्वयं निर्वाण को प्राप्त कर, दूसरों को मोक्ष का मार्ग दिखायेंगे; अधम और पतितों का बेड़ा पार लगायेंगे। (कुछ ठहर कर) किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जब तक संसार में मार की स्थिति है; जब तक कामदेव की भृकुटि में आकर्षण शक्ति है, तब तक मनुष्य के हृदय में विमलता नहीं हो सकती; इनके मनोरथ की सफलता नहीं हो सकती।

[कामदेव चुटकी बजाता है। तुरन्त सुन्दर स्त्रियों का एक समूह प्रकट हो जाता है]

[स्त्रियाँ गाती हैं।]

तनिक नयन खोलो, बैन सैन करो हमसे, प्यारे

छायो सब दिशि बसन्त
आयो जोबन को तन्त
त्रिविध पवन बहत, करत भ्रमर गुंज कारे कारे
तनिक नयन............

ऐसे सुहाने समय में, सजन, तुम पर यह उदासी।
रावरे बनवासी, तिहारी प्रेमप्यासी यह दासी तिहारे परे पइयाँ
आओ, उठो, डारो हमारे गले बइयाँ
(दोहा) युवकों से भी योग जो, चाहे था विधि वाम
तो क्यों तरुणाई दई, क्यों उपजायो काम ?
तनिक नयन खोलो बैन............

बुद्ध—कौन हो ? रमणियो, तुम इस समय इस निर्जन-स्थान में किस प्रयोजन से आई हो ?

स्त्रियाँ—राजकुमार, हम आपकी सेवा में कुछ निवेदन करने आई है। इतनी कृपा कीजिये, हमारी विनय सुन लीजिये—

[गाती और नाचती हैं]

तरुणी, छबीली, सुमुखी, रसीली, पिया रंगीली सुकुमारी।
अलबेली, उन्मत्त, नवेली, विमल चन्द्र-सी उजियारी॥
गोल अमोल कपोलवती, मृगनयनी, पिकबयनी, प्यारी—
रमी नहीं जो ऐसी नारी, तो नरदेह वृथा धारी॥ —तरुणी०
बिखरे केश वेश अति सुन्दर, खुली कंचुकी की डोरी।
हलकी मलमल की सारी मे झलकें कुच गोरी गोरी॥ —तरुणी०
एक कर हो कामिनी की कटि में, एक उरोज सुख लिया करे।
आधे नेत्र खुले 'व्याकुल' मुख से अधरामृत पिया करे॥ —तरुणी०

बुद्ध—(आँखें खोल कर) जाओ, जाओ ! काम दुहिताओ, यहाँ से अभी चली जाओ। तुम मेरे चित्त को चलायमान नहीं कर सकतीं। इसलिये जाओ, और अपवित्रता के घोर अन्धकार में विलीन हो जाओ !

[सब लीन हो जाती हैं। रति गोपा का वेश बनाकर आती है]

रति—प्राणवल्लभ ! जीवनाधार ! मुझ अभागिनी को वियोग की अग्नि में डालकर, आप ऐसे सुनसान स्थान में बैठे हुए किसका ध्यान कर रहे हैं ?

बुद्ध—तू कौन है ?

रति—मैं कौन हूँ ? प्राणनाथ, लोचनभर कर देखो ! आपके साथ प्रमोद-कानन में विहार करने वाली, आपके चरणों पर प्राण बलिहार करनेवाली, आपकी अर्द्धांगिनी, जीवन-संगिनी—नहीं ! नहीं—आपके बिछोह में बरसों तक रोनेवाली, काल की विचित्रगति से पद-दलित होनेवाली, आपकी गोपा, अत्यन्त आशा के साथ आपके सामने हाथ फैला रही है।

प्राणेश्वर, स्मरण कीजिये, जब रात्रि के समय हम दोनों राजभवन की ऊँची अट्टालिका पर निवास किया करते थे, सारक सारिका की भाँति मीठी-मीठी बातों से हास्य किया करते थे, तो यह कौन जानता था कि इस संयोग का परिणाम वियोग होगा ? यह कौन समझता था कि यह भोग ही एक दिन मेरे लिये असाध्य रोग होगा ?—(थोड़ी देर ठहरकर) नहीं सुनते ? नहीं सुनते ?—प्राणेश्वर, यदि मुझसे कोई अपराध भी हुआ है, तो

वह भूल कर हुआ है। उसे क्षमा करो। आओ, मेरे हृदय से आलिंगन करो, मेरे अधरामृत को पान करो। अब इस शुष्क समाधि का ध्यान न करो!

बुद्ध—मूर्खा! कहीं अचल पर्वत करवट बदलता है? लोमड़ी का दाव कहीं सिंह पर चलता है? जा! चली जा! मेरे सामने से चली जा! मेरी प्रिया का वेश बनाने वाली, तू मुझे नहीं छल सकती। चली जा!

[रति भी लीन हो जाती है]

[कामदेव आता है]

काम—निस्सन्देह, यह आकाश के समान गम्भीर हैं, समुद्र के समान पूर्ण है, सूर्य्य के समान तेजमान हैं और पृथ्वी के समान सहनशील हैं। इनसे संग्राम मचाना, देखती आँखों मृत्यु को बुलाना है।—तो क्या मुझे अपना भाव बदल देना चाहिये? इनके आगे से प्राण बचा कर चल देना चाहिये?—नहीं; ऐसा करने में मेरा अपमान है। इस विचार में कायरता छिपी है; मन्मथ, तेरा किधर ध्यान है? मान लो, इस समय मुझे सफलता प्राप्त न हुई; परन्तु अभी मेरी सेना भी तो समाप्त नहीं हुई। देखते जाओ, कैसे-कैसे उपद्रव मचाता हूँ, आँधी, वर्षा, बिजली, भूचाल—इन्हें अनेक प्रकार के भय दिखाता हूँ। अपनी सामर्थ्य भर उद्योग करूँगा। एक बार इस पृथ्वी को हिलाकर रहूँगा, इन्हें उठाकर रहूँगा।

[कामदेव मूछों पर ताव लगाकर और चुटकी बजाकर नेपथ्य मे चला जाता है]

नेपथ्य से—मारो ! मारो ! उठा दो ! उठा दो ! इसे वृक्ष के नीचे से उठा दो !

[दृश्य बदलता है। आँधी चलती है। अंधकार में बिजली की चमक और कड़क होती है। बादल गरजता है। आकाश से तारे टूटते हैं। बड़ी-बड़ी भयंकर, विकराल, नारकी मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। किसी के मुँह से आग और किसी के मुँह से साँप निकलते हैं। अन्तरिक्ष में इधर से उधर तीर चलते हैं।]

बुद्ध—कुछ नहीं हो सकता ! मेरा किसी से कुछ नहीं हो सकता ! पापी मार, मैं तो तेरे विचार का, तेरी करतूत को भली-प्रकार से जानता हूँ। तू और तेरी सेना चाहे जितने उपद्रव मचाये, चाहे जितने भय दिखाये, संशय उपजाये—मैं इन बातों से कब डरता हूँ ? चल ! अब दूर हो ; मैं सत्य का साक्षात करता हूँ।

[परदे के फटने का शब्द होता है। दृश्य बदल जाता है। बोधिसत्व पृथ्वी से ऊपर उठ जाते हैं। शरीर प्रकाशमान हो जाता है।]

हा ! हा ! यह क्या !—हाँ ! यही सत्य है। यही ज्ञान है। यही निर्वाण है।......ओहो ! अनेक ब्रह्माण्ड, अनन्त स्थान ! —कोई गिन नहीं सकता। सब एक ही नीति से जकड़े हुए, एक ही नियम के अधीन ! अँधेरे से उजाला, शून्य से स्थूल और स्थूल से चेतन—जो कुछ हो रहा है, सब इसी नीति के अनुकूल

तीसरा अंक

पहला दृश्य

[पाँच साधु 'हर हर' 'शिव शिव' कहते आते हैं]

ब्रह्मचारी—दिङ्नागजी, हम स्नान भी कर आये ; परन्तु आपका शिष्य आत्मा अभी तक भिक्षा लेकर नहीं आया ; बड़ा समय लगाया !

दिङ्नाग—अजी, भिक्षा की तो ऐसी चिन्ता नहीं ; उसने तो हमारा झूला भी नहीं लटकाया !

अखिलेश—न मेरे बैठने के लिये काँटों का पटरा ही बिछाया।

ब्रह्मचारी—न हवन के लिये समिधा ही आई ; न तपस्या के लिये पञ्चाग्नि ही बनाई।

साधु—साधु होकर सेवक की आवश्यकता ; अरे वाह रे तुम्हारी तपस्या !

तपस्वी—अच्छा चलो, अपने-अपने आसन लगाओ, और तपस्या में बैठ जाओ।

[सब तपस्या में बैठ जाते हैं]

साधु—तपस्वी जी, आप धन्य हैं, जहाँ ऐसे कठोर साधन हो, वहाँ क्यों न इन्द्रियों का दमन हो।

ब्रह्मचारी—आप मन्त्र भी जपते हैं, और पञ्चाग्नि भी तपते हैं।

दिङ्‌नाग—बात तो यही है! भजन का भजन और साधन का साधन!

तपस्वी—दिङ्‌नाग जी, मेरा साधन ही क्या है; इस आश्रम में तो एक से एक अधिक तपस्या करने वाले हैं। अखिलेशजी को देखो, कैसी कठिन तपस्या कर रहे हैं, जीते जी मर रहे हैं।

पड़े रहते हैं ये निश्चेष्ट जो दिन-रैन काँटों पर।
न जाने करते हैं क्योंकर निशा को शयन काँटों पर।

अखिलेश—हरे-हरे! पापोहम् पापात्माहम्! दिङ्‌नाग जी को देखो कितना कष्ट उठा रहे हैं; आठ पहर खड़े ही खड़े बिता रहे हैं।

दिङ्‌नाग—शरीर को कष्ट देने में क्या है? यह तो पंचभतों का बना है।

[एक आत्मा नाम का चेला भिक्षा लेकर आता है, साधुओं की बात सुनने के लिए पेड़ की आड़ में खड़ा हो जाता है]

जैसा अभ्यास डालोगे वैसा पड़ जायगा, किन्तु आत्मा कैसे शान्ति पायगा ?

आत्मा—(एक ओर को) ऐ ! पंचभूत और आत्मा ! यह क्या परमात्मा ? मान लो आत्मा तो रहा मेरा नाम परन्तु भूतों का यहाँ क्या काम ?

दिङ्नाग—आत्मा तो पंचभूतों में ही घिरा रहता है।

आत्मा—तभी तो भूखा मरता है, और कष्ट सहता है।

अखिलेश—नहीं पंचभूत तो आत्मा के अधीन रहते हैं।

आत्मा—यह झूठ कहते हैं। भला, कहाँ मैं एक बामन का पूत और कहाँ ये पांचों भूत !

ब्रह्मचारी—तो क्या आत्मा ही हमारे दुखों का कारण है ?

दिङ्नाग—निस्सन्देह ; यह बात तो साधारण है।

आत्मा—लो, और सुनो ! आत्मा ही तो रात-दिन सेवा करे, भूखा मरे, भिक्षा माँग कर लाये और आत्मा ही दुःखों का कारण ठहराया जाय, यह अन्याय !

ब्रह्मचारी—तो अब आत्मा ही को मारना चाहिये।

आत्मा—बेटा आत्मा ! अब यहाँ से सिधारना चाहिये; नहीं तो समझ लेना कि मृत्यु आ रही है, कोई घड़ी जा रही है।

तू समझता रहा जिन्हें अवधूत।
आज जाना कि हैं ये पाँचो भूत।

परन्तु भूत के पाँव तो पीछे को होते हैं, इनके आगे को कैसे हैं ? (कुछ सोचकर) अरे जी, इन भूत-पिशाचों को सब प्रकार की

सामर्थ्य होती है। तो फिर यह कैसे निश्चय किया जाय कि यह साधु हैं या भूतों का समुदाय? बड़ी कठिनाई! (सोचकर) हाँ, आई! एक युक्ति समझ में आई। (घबराया हुआ, साधुओं की ओर दौड़ता हुआ) अरे, अरे! अरे, अरे! आग लगी, आग लगी!

ब्रह्मचारी—(उठकर) आग लगी! आग लगी! भागो! भागो! भाग जाता है।

अखिलेश—(तपस्वी से) उठो, तपस्वी जी, समाधि त्यागो।

दिङ्नाग—मैं तो भाग भी नहीं सकता, परमात्मा! अरे क्या मुझ अपाहज को यहीं छोड़ जाओगे, महात्मा।

[सहज-सहज चलता है]

तपस्वी—(हाथ मे चिमटा लिये उठकर आत्मा से) अरे, आग कहाँ लगी, कहाँ?

आत्मा—(पेट बजाकर) अजी, यहाँ लगी, यहाँ!

तपस्वी—(क्रोध से चिमटा मारकर) दुष्ट, चाण्डाल!

आत्मा—आगया काल!

तपस्वी—लौट आओ! सज्जनो, लौट आओ! इस पाखंडी के कहने पर मत जाओ। (चिमटा मारकर) मूर्ख ने सबके भजन में खलबली डाल दी।

आत्मा—हाय! हाय! चिमटे मार-मार कर मेरी खाल उड़ा दो।

[भागे हुए साधु लौट आते हैं]

सब साधु—तपस्वी जो क्या बात थी ?

तपस्वी—बात क्या थी (आत्मा की ओर को) इस का उत्पात था।

ब्रह्मचारी—क्यों रे धूर्त, तुझे क्या सूझा ?

आत्मा—भला, मरता क्या न करता ?

अखिलेश—तुझे क्या कोई मारता था ?

आत्मा—मारने की युक्ति विचारता था।

दिङ्नाग—यह कैसे जाना ?

आत्मा—मैंने अपने कानों से सुना, 'आत्मा को मारना चाहिये।'

तपस्वी—हत् तेरा भला हो! तू उसे अपने ऊपर ले दौड़ा!

आत्मा—हाँ, मै, अपने-आप को तो समझा 'आत्मा' और आप सबको 'पाँचो भूत।'

सब साधु—हँसकर जा बे, ऊत! जा बे, ऊत!

[एक ओर से सिद्धार्थ आते हैं]

साधु—ऐं यह सूर्य्य के समान अपने प्रकाशमान मुख की प्रभा फैलाता हुआ कौन साधु आ रहा है ?

[बुद्ध का प्रवेश]

सब साधु—प्रणाम, श्रमण, प्रणाम!

बुद्ध—धर्म में गति हो!

तपस्वी—कहिये, आपका स्थान कहाँ है ?

बुद्ध—प्रेम का प्रमोदागार ।

दिङ्नाग—आपका धर्म क्या है ?

बुद्ध—दया का प्रचार ।

अखिलेश—आपका उद्देश्य ?

बुद्ध—जीवमात्र का उपकार ।

ब्रह्मचारी—सम्प्रदाय ?

बुद्ध—मिथ्या सम्प्रदायों का संहार ।

साधु—आपने ज्ञानप्राप्ति के लिये कौन साधन सोचा है ?

बुद्ध—त्याग और विचार ।

तपस्वी—किन्तु जीव तो तपस्या ही से शान्ति पाता है ।

बुद्ध—नहीं, इसमें मुझे शंका है ।

साधु—हाँ, वह अवश्य कहिये, क्या है ?

बुद्ध—मैं देखता हूँ आप बड़े-बड़े सकट उठाते हैं, जीवित देह को ही अग्नि से जलाते हैं, जल में गलाते हैं, अपने शरीर को आप ही कष्ट पहुँचाते हैं। महात्मन् जीवन तो एक रत्न है, अमृत की धार है, जीवन के तो स्वभाव में ही प्रेम प्यार है। जीवन तो सुख स्वरूप है, सुख ही का नाम है ।

पहला साधु—हमें इतना ज्ञान नहीं है। सभव है ऐसा हो, परन्तु यह बात तो फिर भी सीधी है कि जैसे रात के बीतने पर दिन निकलता है, वैसे ही दुःख के अन्त होने पर सुख मिलता है। हम अपनी आत्मोन्नति के कारण यह सारे संकट उठा रहे हैं; शरीर बाधक बना हुआ है, इसी से इसको तपा रहे हैं। जो अब

थोड़े ही दिन दुख उठा लेंगे, तो हम अनन्त सुख पायेंगे, आत्मा को अच्छे-से-अच्छे भोग मिलेंगे, हम यहाँ मना रहे हैं।

बुद्ध—यदि यह भोग करोड़ो वर्ष तक स्थिर रहें, तब भी एक दिन समाप्त हो जायेंगे। क्या आप बतलायेंगे कि आकाश पाताल या इससे भी दूर कहीं किसी ऐसे जीव का अस्तित्व है जो विकार परिवर्तन से रहित हो! और तो क्या! क्या आपके देवता सदैव विद्यमान रहते हैं; कहिये, इसके लिये आप क्या कहते हैं।

पहला साधु—नहीं श्रमण! नहीं! अनादि अनन्त तो केवल ब्रह्म का नाम है।

बुद्ध—तो फिर आप बुद्धिमान, दृढ़, और शुद्ध अन्तःकरण वाले होकर, एक स्वप्नवत् और कल्पित लाभ के कारण क्यों अपने अंगो को सुखा रहे हैं? आत्मा की प्रीति के लिये जीव को वृथा कष्ट पहुँचा रहे हैं। इस शरीर-रूपी घोड़े को मार मार कर, क्या आप ऐसा लँगड़ा बना देंगे, कि यह आपको जीवन और उसके उद्देश्य तक पहुंचाने के लिये असमर्थ हो जाय; रात होने के पहले ही थक कर बैठ जाय; दिन में ही ठोकर खाय और आप का मार्ग में गिराय?

साधु—यथार्थ है!

बुद्ध—(साधुओं से) देखो, आकाश में उड़ने वाले ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की झूमती हुई लताओं पर झूल-झूल कर मधुर गान करने वाले इन पक्षिओं को देखो। इनमें से कोई भी अपने जीवन

से घृणा नहीं करता । इनमें से कोई भी अपनी आवश्यकताओं को त्याग कर, इस प्रकार, उत्तम गति को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता । किन्तु कितने शोक की बात है कि मनुष्य अपने रक्त ही से पली हुई बुद्धि के कारण ही तो प्राणिराज कहलाता है और इस बुद्धि के अस्तित्व का प्रमाण ऐसे ही नीच कर्मों द्वारा दिया जाता है !

पहला साधु—यथार्थ है ! श्रमण, आपका कथन यथार्थ है । दयामय, अब हम इस कांटों से भरी हुई तपस्या का त्याग करते हैं ; आपकी शरण में आते हैं ।

[अपने अपने आसन इत्यादि फेंककर खड़े हो जाते हैं]

हम आज से आपके शिष्य हुए, हमें सत् उपदेश दीजिये ।

तीसरा अंक

दूसरा दृश्य

गोपा के भवन का आङ्गन

[बुद्ध भगवान का हार लिये हुए, गोपा दासियों सहित आती है]

गोपा—(हार से) क्यों, तुझे क्या हो गया है ? तेरी कान्ति क्यों जाती रही है ? तुझ पर उदासी क्यों छा गई है ? (ठहर कर) बोल ! उत्तर दे ! मेरी बात का कुछ तो उत्तर दे ! (फिर ठहरकर) क्यों ! नहीं बोलता ! उत्तर नहीं देता ! (कुछ ठहर कर और सोचकर) हाँ—तू नहीं बोल सकता। किन्तु मैं जानती हूँ ; तेरे हृदय का भाव पहचानती हूँ। इन मोतियों ने, एक दिन, लोहे की शलाका से अपना अंग छेदन कराया था ; तब कहीं, हार बनकर, उनके गले में स्थान पाया था। इसी लिये मेरी भांति आज तेरी आभा

भी फीकी पड़ी हुई है। तुझसे भी वियोग की वेदना नही सही जाती। विरह-दुख ऐसा ही होता है। देख, ऐ विरही हार ! मेरी क्या दशा है—इधर दिन भर रो-रो कर आँखो से आँसू बहाती हूँ, और उधर रात भर तारे गिन-गिन कर सवेरा निकालती हूँ।

(प्यार से) आ ! मैं तुझे हृदय से लगाऊं, गले से लगाऊँ, क्योंकि—तू उनके गले से लगा है। (गलेसे लगाना चाहती है। फिर रुक जाती है) किन्तु नहीं ! तुझे गले से लगाऊँ ? मेरी विरह अग्नि को भड़काने वाले, पत्थर के समान कठोर हृदय वाले, तुझे गले से लगाऊँ ? तू, संयोग के समय में भी, मेरे बैरों ही पड़ा रहता था ! दो हृदयो के बीच में आकर अंतर कर देता था। फिर तुझे हृदय से लगाऊँ ? (कुछ सोचकर) ऐं ! गोपा ! यह तू क्या कह रही है ? किसके लिए कह रही है ? यह स्वामी के गले का हार है ; अब तो यही तेरा जीवनाधार है। धिक्कार है ! तुझ पर धिक्कार है ! (कुछ ठहर कर और हार के प्रति कातरता दिखाती हुई) आ ! प्राणेश्वर के हार, आ। स्वामी के श्रृंगार, आ। मै तुझे अवश्य हृदय से लगाऊंगी। तेरे मोतियो को नेत्रों की ज्योति के तागे में पिरो कर और भी सुन्दर बनाऊँगी।

[राहुल आता है]

राहुल—मा ! मा !

गोपा—(प्रसन्न होकर) कौन ? राहुल ! मेरा प्यारा राहुल ! मेरी आंखों का तारा राहुल ! (प्यार से राहुल को अपने पास की करती है)

राहुल—मा ! दादा कहते हैं जब तुम बड़े हो जाओगे तो राज्य का प्रबन्ध तुम ही को करना होगा ?

गोपा—सच तो कहते है ।

राहुल—जब दादा राज्य का प्रबन्ध मुझे दे देंगे तब तो लोग (प्रसन्न मुख से)—मुझे भी 'राजा' कहेंगे !

गोपा—हाँ ! (मुँह चूमकर) मेरे लाल को लोग 'राजा' कहेंगे।

राहुल—(तनिक गंभीर भाव से) परन्तु, मा, राजा का तो बड़ा अत्याचार करना पड़ता है ?

गोपा—हाँ, जब उसे शत्रु से लड़ना पड़ता है ।

राहुल—नहीं—राजा, युक्ति और प्रपंच से आपस में भेद डालकर प्रजा को लड़ाता है । अपने राज्य को दृढ़ करने के लिये प्रायः किसी को उपाधि देकर मान बढ़ाता है, किसी को कारागार में बन्द करके कष्ट पहुँचाता है । स्वयं ऐश्वर्य भोगने के लिये, अपना कार्य सिद्ध करने के लिए, अपने राज्यकोष को लक्ष्मी से भरने के लिये, प्रजा पर भारी-भारी कर लगा देता है ।—दुःख के कारण जब प्रजा बिलबिला जाती है और अपनी स्वतन्त्रता के लिये यत्न ढूँढ़ती है, जिह्वा हिलाती है, तो फिर उसके मुँह पर नीति का ताला लगाया जाता है ; उसे कष्ट पहुँचाया जाता है—क्यों, मा, क्या मैं भी ऐसा ही राज्य करूँगा ?

गोपा—नहीं वत्स ! यह तो तुम्हारी भूल है । यह बात न्याय और नीति के सर्वथा प्रतिकूल है । राजा को न्यायकारी होना चाहिये । प्रजा को सन्तति के समान जानकर

उसका उपकार करे; उसके साथ प्रेम का व्यवहार करे।

राहुल—माँ, बहुत से राजा प्रकट रीति से तो अपनी प्रजा के साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं, किन्तु—लकड़ी में घुन के समान—भीतर ही भीतर मर्म-प्रहार करते है।

गोपा—ऐसे राजा का राज थोड़े ही दिन रहता है!

राहुल—लोग कहते हैं—बिना भय दिखाये, बिना युक्ति लड़ाये, राजा अपनी प्रजा पर शासन नहीं कर सकता।

गोपा—नहीं—दण्ड और भय से प्रजा के शरीर पर थोड़े दिन के लिये शासन हो सकता है; प्रजा का मन बस में नहीं हो सकता।

राहुल—तब तो, माँ, मैं भी ऐसा ही व्यवहार करूँगा; जब राज्य करूँगा तो आपही की शिक्षा के अनुसार करूँगा—

> प्रजा के मन पै अपने प्रेम का सिक्का जमाऊँगा,
> मैं उनके सुख को सुख और दुख को अपना दुख बनाऊँगा,
> मैं अपने देश के हित के लिये जीवन बिताऊँगा,
> जो कर लूँगा तो उनके ही सुकर्मों मे लगाऊँगा।

गोपा—(पुचकार कर) ईश्वर तुम्हे चिरायु करे! जभी मेरे राजकुँवर ने आज धनुष धारण किया है। अरी दासियो! देखो मेरे चाँद के माथे पर दिठोना लगा दो!

दासी—अभी लगाती हूँ; युवरानी जी, अभी लगाती हूँ।

(जाती है)

राहुल—मा ! आज से मैंने अर्जुनाचार्य के पास बाण-विद्या सीखना आरम्भ कर दिया है, इसीलिये यह धनुष बाण लिया है।

[दासी आकर माथे पर दिठौना लगाती है]

गोपा—(राहुल से) बड़े हर्ष की बात है। (मुंह चूमकर) अच्छा जाओ, मेरे चाँद, विद्या-अध्ययन करो।

[राहुल जाता है। एक और दासी आती है]

दासी—(हर्ष से) बधाई है ! युवरानी जी, आपको बधाई है ! ! आज राजसभा में दो व्यापारी आये हैं; हमारे राजकुमार का कुछ समाचार लाये हैं।

गोपा—(चकित-सी होकर) राजकुमार का ! मेरे प्राणेश्वर का !! मेरे जीवनाधार का !!! क्या तूने उन्हें अपनी आँखों से देखा है ?

दासी—जी हाँ ! हाँ ! मैं अपनी आँखों से देखकर आई हूँ। त्रिपुश और भल्लक उनके नाम हैं। उन्होंने राजकुमार को फल्गु नदी के तट पर आसन लगाये, ध्यान में मग्न बैठे, देखा है। वे कह रहे हैं कि हमने श्री महाराज से उपदेश पाया है, उनके चरणों में शीश नमाया है।

गोपा—अहो भाग्य ! अहो भाग्य !! अरी, कोई जाओ ! पिताजी से आज्ञा लेकर उन्हे यहाँ बुला लाओ !

दासी—(हाथ जोड़कर) मैं जाती हूँ।

गोपा—(स्वगत) विधाता, क्या सचमुच आज तुम मुझ पर प्रसन्न हुए हो ? मेरी सात वर्ष की वेदना ने क्या आज तुम्हारे हृदय पर कुछ प्रभाव डाला है ?

दासी—(दूसरी दासी से) सरोजिनी, इसी लिये आज सवेरे से मेरी बाईं आँख फड़क रही थी !

दूसरी दासी—ठीक है !! जभी अटारी पर बैठा हुआ काग बोल रहा था।

[व्यापारियों को लेकर दासी लौटती है]

गोपा—(व्यापारियों से) पधारो ! पधारो ! विरहसागर में डूबती हुई, मेरी हृदय नौका को प्राणेश्वर का समाचार सुनाकर उबारने वालो, पधारो ! मैं आपका शुभागमन करती हूँ। बताओ, श्रेष्ठ जनो, तुमने उन्हें कहाँ देखा है, किस अवस्था में देखा है।

त्रिपुशा—वह जिस अवस्था में हैं उसका वर्णन कौन कर सकता है ? किसके मुख में जिह्वा है ? आज वह चक्रवर्ती राजाओं से अधिक मान्य हैं, देवताओं से अधिक पूज्य हैं, गंगा से अधिक पवित्र हैं। उन्होंने उसी पद को प्राप्त किया है जो संसार में आज तक किसी को नहीं मिला है। अब वह ज्ञान-रत्न लुटाते, सत्य का चमत्कार दिखाते, पृथ्वी पर शान्ति फैलाते हुए, ग्राम-ग्राम में विचर रहे हैं। लोग, बड़े उत्साह के साथ, उनके उपदेश-रूपी अमृत का पान कर रहे हैं।

गोपा—महाजनो, तुम धन्य हो ! तुम्हारे लोचन धन्य हैं !

तुमने उनका दर्शन किया है ! और उनको कुशल सुनाकर मेरे सात वर्ष के दुख को भुला दिया है। परन्तु अभी मेरे कान तृप्त नहीं हुए, मेरा जी नहीं भरा। इसलिये, सुनाओ, मेरे स्वामी की कोई लीला देखी हो तो सुनाओ।

भल्लक—श्रीमती जी, फल्गु नदी के तटपर जिस समय भगवान् को सत्य का साक्षात्कार हुआ, वह अद्भुत दृश्य था; कहने में नहीं आसकता। पापी मार उनसे युद्ध में हार मान कर निराश था; सारे बनमें अपूर्व प्रेम का प्रकाश था; पशुओं तक के हृदय से बैर-भाव जाता रहा था। मृग सिंह के पास, हर्ष से, हरी-हरी घास चर रहा था; बगुला अपने परों से मछलियों के ऊपर छाया कर रहा था।

गोपा—(स्वगत) दया का विलक्षण प्रभाव है। (व्यापारियों से) अच्छा ! जब महाराज ने, मार पर विजय पाकर, ज्ञान प्राप्त कर लिया, तब क्या विचार किया ?

त्रिपुशा—एक सप्ताह तक भगवान यहीं विचार करते रहे कि सांसारिक मनुष्यों की बुद्धि राग और द्वेष में फँस रही है और इस ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य नहीं है।

गोपा—मनुष्य का दुर्भाग्य !

भल्लक—नहीं, नहीं ! उसी समय, ब्रह्मादिक देवताओं ने आकर भगवान से प्रार्थना की कि 'यदि आप इस प्रकार मौन धारण कर लेंगे तो जीवों का ताप कौन मिटायेगा ? संसार को दुःख और अशान्ति से कौन बचायेगा ?'

गोपा—यह तो उन्हों ने बड़ा उपकार किया! तो क्या, महाराज ने उनकी प्रार्थना को स्वी ार किया?

त्रिपुशा—जी हाँ, स्वीकार किया। भगवान् ने पहिले कश्यप को अपना शिष्य बनाया; अश्वजित, वसु और महनाम को उपदेश दिया। फिर और साठ पुरुषो को ज्ञान देकर कृतार्थ किया।

गोपा—(स्वगत्) जननी, भारत भूमि, तुम बहुत दिन से आर्तनाद कर रही थीं। तुम्हारी दुःख निशा की अन्धेरी को सूर्य की प्रभा ने हटा दिया है। अब तुम गर्व करो; हर्षाओ—जिस प्रकार अचल हिमाचल के ऊँचे शिखर देख कर गर्व करती हो, जिस प्रकार शरत् बसन्त आदि षट् ऋतुओं पर दर्प करती हो। अब तुम्हारा गौरव बढ़ेगा; तुम्हारा प्रत्येक बालक इस विज्ञान पर मान करेगा। (व्यापारियो से) महापुरुषों, यह तो कहो कि वह जगत्-नाथ इस अभागिनी को दर्शन देने के लिये यहाँ कब तक आयेंगे; इन प्यासे नेत्रों की प्यास कब तक बुझायेंगे?

भल्लक—महारानी, अब अधिक देर नहीं है। श्री महाराज सोन नदी को पार करते हुए राजा बिम्बसार के यहाँ गये हैं। हमारे अनुमान से तो वर्षा-ऋतु के आगमन तक आजायेंगे।

गोपा—(प्रफुल्लता से) दासियो, जाओ! इन्हें भेट करने के लिये रत्न भंडार से मोतियों के दो थाल भर कर ले आओ।

दासी—अभी लाती हूँ! (जाती है)

त्रिपुशा—राजेश्वरी, इसका परिश्रम न उठाइये; इतना न

लजाइये। आपने हमें अपनी सेवा में बुलाया, यह क्या थोड़ा मान बढ़ाया ?

गोपा—और इसमें क्या हानि है ? यह भी तो मान के पान के ही समान है—

[दासी दो थाल भर कर लाती है । गोपा व्यापारियों को थाल देती है]

तुम्हारे इस उपकार का मैं कुछ भी बदला नहीं चुका सकती। महाजनो, यह एक प्रेम का बदला है; व्यवहार का बदला नहीं है।

तीसरा अङ्क

तीसरा दृश्य

एक साधारण घरेलू बैठक

[महीधर आता है]

महीधर—(कुछ अप्रसन्नता से) अरे, यह क्या ! बैठक की यह दशा ! इधर भी कूड़ा ; उधर भी कूड़ा ! हमारा सेवक भी बड़ा ही मूर्ख है । बड़ा ही बौंगा है । मैं कहता हूँ 'पूरब' तो यह कहता है 'पच्छिम' । मैं चाहता हूँ संकेत से काम कराना ; और यह चाहता है मुझे कुत्ते की भाँति भौंकाना । मूर्ख ने अब तक न झाड़ू लगाई, न चाँदनी बिछाई । मित्रों के आने का समय भी हो गया । वह लोग आयँगे, तो कैसा ठट्ठा उड़ायँगे ! (पुकारता है) अरे कुम्भलक ! ओ कुम्भलक !!

कुम्भलक—(भीतर से) आया, महराजा !

महीधर—अरे मूर्ख, क्या कर रहा है ? कहाँ मर रहा है ?

कुंभलक—(भीतर से) कुट्टी काटत हूँ, महराज, कुट्टी काटत हूँ !

महीधर—अबे, इधर भी आयगा या वहीं से बातें बनायगा !

कुभलक—(आकर) लेओ ! आगयो । बोलहो, का कहत हो ?

महीधर—(क्रोध से) अबे, हमने तुझे क्या आज्ञा दी थी ?

कुभलक—उतै, गइया हू भूखी रम्भाय रही थी !

महीधर—अबे, रम्भा रही थी, तो रम्भाने दे। गऊ की चिन्ता ही क्या है ?

कुंभलक—अजो, जब उका नाहीं देवे न्यार, तो उका तुहका देवे धार ?

महीधर—(डाटकर) अबे, धार के बच्चे ! यहाँ बिछा-वन बिछा !

[कुंभलक जाता है । नेपथ्य में से दो मनुष्य पुकारते हैं]

नेपथ्य से—महीधर जी ! महीधर जी !

[दो पुरुष आ जाते हैं]

महीधर—(उन्हें देखकर) आइये ! आइये ! पंडित वामदेवजी ! ओहो ! राममिश्रजी भी आ पधारे !

राममिश्र—मित्र, तुम तो अपने घर में स्वयं ही पाहुने-से खड़े हो !

महीधर—क्या कहूँ, राममिश्रजी, यह सेवक ऐसा ही गँवार मिला है।

[कुमलक बिछावन लेकर आता है और बिछा देता है]

[शिवदत्त और वाग्भट्ट आते हैं]

दोनों—महीधरजी, नमस्कार!

महीधर—नमस्कार, महाराज, नमस्कार! भले समय पर आये। मित्र, मैं तुम्हें बुलाने ही को था।

वाग्भट्ट—अच्छा, तो फिर क्या आज्ञा है?

वामदेव—आज्ञा क्या है, वही गौतम-बुद्ध के विषय में विचार करना है।

शिवदत्त—अरे मित्र, उसकी तो दिन पर दिन प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है।

राममिश्र—निःसन्देह, लोगों की उसमें बहुत ही श्रद्धा है।

वामदेव—यह सब उसकी शिक्षा है कि अब न कोई यज्ञ कराता है, न बलिदान देता है।

वाग्भट्ट—हमारा तो धंधा ही जाता रहा। यज्ञ तो क्या, कोई सत्यनारायण की कथा भी नहीं कहलाता; अमावस्या के दिन दूध पेड़े भी नहीं खिलाता।

महीधर—साधारण मनुष्य क्या, राजा-महाराजा उसके आगे सिर झुकाते हैं, बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित उसकी युक्तियों से मौन हो जाते हैं।

शिवदत्त—महीधरजी, उस दिन यज्ञशाला का दृश्य तो आपने भी देखा ही था ?

महीधर—क्यों नहीं ! वह तो मेरे हृदय पर अंकित हो रहा है। तभी तो आज इतना षट्राग रचा है ।

वामदेव—रचा तो है, परन्तु सफलता बड़ी कठिन है।

राममिश्र—उसमें कुछ ऐसी सिद्धि है कि जो वहाँ जाता है, उसका शिष्य हो जाता है।

शिवदत्त—वाग्भट्टजी, आप उससे किसी दिन शास्त्रार्थ करें।

वाग्भट्ट—नहीं, शास्त्रार्थ तो वहाँ नहीं चल सकता ; हाँ, शस्त्रार्थ से काम निकल सकता है ।

महीधर—यह उपाय तो हम पहले ही कर चुके हैं। एक डाकू को उसके प्राण लेने के लिए भेजा था।

वाग्भट्ट—डाकू को ?

महीधर—हाँ, परन्तु वह भी वहाँ जाकर सारे दाव-घात भूल गया। उन्हीं का सेवक हो गया।

वामदेव—यह क्या माया ? शत्रु भी उसका मित्र हो जाता है।

राममिश्र—उसे अवश्य कोई वशीकरण आता है।

महीधर—अब तो एक और विचार है ।

वाग्भट्ट—हाँ, हाँ, कहो न ? स्वार्थ और संसार ।

महीधर—मैंने आज कामकला वेश्या को बुलाया है ।

वामदेव—वेश्या इसमें क्या तीर चलायगी ?

महीधर—(कुछ चिढकर) तीर ! उसके तीर तो कर देंगे महाराज के हृदय पर लकीर !

वाग्भट्ट—इसमें सन्देह नहीं; है तो वह ऐसी ही चपला-चंचला। इस समय की तो वह मैनका है !

महीधर—वह उनके पास जायगी, और जिस समय उन्हें अपने मधुर कटाक्ष दिखायगी, तो अवश्य मुग्ध हो जायँगे; सारी सिद्धि भूल जायँगे।

वाग्भट्ट—और जो उनका मन न विचला ?

महीधर—तो भी क्या है ? उसके कुछ गर्भ के निशान बना देंगे; और उनके सिर दोष लगा देंगे। फिर संसार उनकी ऐसी प्रतिष्ठा तो न करेगा।

शेष सब—बस ! बस ! यूँ ही काम बनेगा।

[कामकला और सारंगी वाले आते हैं]

सारंगिया—महाराज का बोल बाला ! और बैरियों का मुँह काला।

महीधर—ओ हो ! आगईं, कामकला !

कामकला—लो, आप बुलायें और हम न आयें।

राममिश्र—कामकला, आज तो तुम पर बड़ा ही निखार है।

कामकला—क्यूँ नहीं ! जिस पर आपका प्यार हो, उस पर निखार न हो ?

रामभिश्र—कैसी नीचे झुकी जाती हैं तुम्हारो आँखें ।
यूँ ही तो चित्त चुरा लेती हैं प्यारी आँखें ।

वामदेव—मिश्रजी, आप इन आँखों को समझते क्या हैं ?
तीक्षण तीर हैं पलकें तो कटारी आँखें ।

शिवदत्त—ठीक है ! ठोक है !—

भुवें धनुष सम, पलक शर, नयना दोउ निषङ्ग ;
तिरछी चितवन कर रही बैरिन को मद भङ्ग ।

कामकला—(मुसकराकर)

तीर तरकश बताई जाती हैं
देखो आँखें लजाई जाती हैं

वाग्भट्ट—भगवान् लोगों की दृष्टि से बचाय !—इस समय तो धानो दुपट्टे पर भी निराली हो बहार है !

महीधर—आहा !—

कुच नाहीं ये कलश हैं, विष अमृत के दोय ;
दृष्टि परत व्याकुल जरत, परसत शीतल होय ।

रामभिश्र—भई, क्या समय की कही है !

कामकला—अब तो आप सभ्यता से बाहर जाने लगे !

महीधर—हम सभ्यता से बाहर जाने लगे—इसमें हमारा क्या दोष है ?—

तेरे उर को, कामिनी, कुच निकसे जब फोर ।
यह व्याकुल के हृदय को कैसे देंगे छोर ?

शिवदत्त—ठीक तो है । जब यह तुम्हारे होकर तुम्हारे ही

हृदय से बाहर आने लगे, तो हम भी सभ्यता से बाहर जाने लगे।

महीधर—अच्छा, अब इस छेड़-छाड़ को समाप्त करो। हाँ कामकला, तुम अपना कलाकौशल दिखाओ; कोई तड़पती हुई रागिनी सुनाओ।

राममिश्र—देखो, गाना भी हो और बताना भी हो।

वाग्भट्ट—और तनिक ठुमका लगाकर रिझाना भी हो।

कामकला— [गाती है]

आज मिले तोहे सखी कुंजन पिहरवा।
काहे बोलो झूठे बैन, कहे देत तोरे नयन
देखो ना बिथुर रहे मुख पर बरवा.........आज मिले—
अंगिया के बंद टूटे कर से कंगन छूटे
एक-एक के चार चार उपटे हैं हरवा—आज मिले...

महीधर—वाह वा! वाह वा!

शिवदत्त—क्या कहने हैं! क्या कहने हैं।

वामदेव—कामकला गा रही हो, या छुरी चला रही हो? "एक एक के चार चार उपटे हैं हरवा"--भई क्या कहा है, सच-मुच चित्रही खींच दिया है!

वाग्भट्ट—यह लो! कामकला, यह लो! (पारितोषिक देता है)

सारंगिया—जय-जयकार रहे, भगवान् आनन्द रक्खें।

महीधर—अच्छा लो। कामकला, यह तुम्हारा पुरस्कार है!

कामकला—मैं इसे सिर आखों से स्वीकार करती हूँ।

महीधर—(सारंगी वाले से) अच्छा अब तुम लोग तनिक बाहर जाकर पान तम्बाकू खा आओ।

[सारंगीवाला और तबले वाला अपना साज़ बांधते हैं]

सारंगिया— (सीस नवाकर) यह शिर मुरडी बनी रहे। जुग-जुग जियो ! पुत्रों फलो ! (जाते हैं)

महीधर—(कामकला से) तुम से हमें एक काम में सहायता लेनी है।

कामकला—(आश्चर्य से) मुझ से ! मुझ-सी तुच्छ स्त्री से ! मैं और आपको सहायता दूँ ! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ?

महीधर—नहीं ! कामकला, वह तुम्हारे ही करने का काम है।

कामकला—हाँ ?—यदि ऐसी ही कोई बात है, तो बताइये।

महीधर—यह जो नगर के बाहर एक बड़े महात्मा ठहरे हुए हैं, तुमने सुना तो होगा ?

कामकला—राम ! राम ! हमें महात्माओं से क्या काम !

महीधर—(हँसकर) हाँ, यह तो तुम ठीक कहती हो ; परन्तु उनकी तो बड़ी धूम मच रही है !

राममिश्र—अजी वही, जिन्हें लोग बुद्ध भगवान कहते हैं !

कामकला—उनकी चर्चा तो मैंने भी सुनी है कि उन्होंने सत्य धर्म की प्राप्ति के लिये एक बड़ा राज्य छोड़ दिया है। और अब उनको वह बौद्ध-पद प्राप्त हो गया है।

वामदेव—अजी बौद्ध-पद तो जैसा प्राप्त हुआ है, हुआ ही है !

महीधर—हाँ, मेरा उन्हीं से प्रयोजन है। भला, तुम उन्हें भी अपने फन्दे में फँसा सकती हो ?

कामकला—यह आप क्या कह रहे हैं। उन्हें फन्दे में फँसा-

ना तो एक सिंह को पिंजरे में लाना है। जिन्होने अप्सराओं से सुन्दर रानियो से मुँह मोड़ लिया, वह एक वेश्या के रूप पर क्या दृष्टि उठायेंगे ? जिनके दोनों नेत्र खुले हुए हैं, वह अँधेरे कूप में कैसे गिर जाँयगे ?

शिवदत्त—कामकला, तुम्हारे यह फूल से गाल और भ्रमर से बाल क्या कुछ भी प्रभुता नहीं रखते ?

कामकला—यह प्रभुता रखते हैं, उन लोगों के लिये, जो प्यासे हिरन के समान बालू रेत की लकीरो को ही जल समझ कर उससे प्यास बुझाने की चेष्टा करते हैं, जो एक लोभी मनुष्य की भाँति, ब्याज के लालच में मूल को गँवाकर पछताते हैं, न-कि उनके लिये जो पर नारी को नरक के समान जानते हैं।

वामदेव—(स्वगत) वेश्या सही, परन्तु बात चतुराई की कही !

महीधर—अच्छा, जो युक्ति बतलाता हूँ, उसके अनुसार काम करो। सफलता होने पर तुम्हें पारितोषिक दिया जायगा।

राममिश्र—बस यह समझ लो, प्रसन्न कर दिया जायगा।

कामकला—इसकी चिन्ता न कीजिये; परन्तु वह युक्ति तो बताइये।

महीधर—हमारा केवल इतना अभिप्राय है कि उनकी इस बढ़ी-चढ़ी प्रतिष्ठा में बट्टा लग जाय; उनकी ओर से लोगों की श्रद्धा घट जाय।

कामकला—हाँ, हाँ ! फिर इसका उपाय ?

महीधर—सुनो ! जिस समय नगर के लोग उनसे उपदेश

सुनकर घर को आया करें, तुम उस ओर को जाया करो।

शिवदत्त—और जब लोग दूसरे समय उनके पास जाया करें, तो तुम उधर से आया करो।

कामकला—वाह वा! इससे आपका क्या अर्थ सिद्ध हुआ?

राममिश्र—बस, इतने ही में हमारा काम बन जायगा; क्योंकि, लोगों के मन में सन्देह पड़ जायगा कि यह वेश्या महाराज के पास एकान्त में जाती है।

कामकला—और जो लोगों ने ध्यान न दिया, कुछ न कहा?

वाग्भट्ट—लोग न कहो! हम तो उड़ा देंगे! उनके भक्तों को तुम्हें आता-जाता हो दिखा देंगे।

कामकला—ओह! यह क्या बड़ी बात है! तो अब आज्ञा है, या और कोई काम है?

महीधर—इस समय तो बस यही काम है। देखो, कैसी चतुराई से करती हो।

कामकला—देखते जाइये!

[जाती है]

राममिश्र—जो चल गई, तो युक्ति बड़ी ही उत्तम है। अच्छा, अब आज्ञा दीजिये। मुझे चक्रपूजन में जाना है।

वाग्भट्ट—हम भी तो चलते हैं। हमें तो एक मृतक संस्कार कराना है।

[सब जाते हैं]

तीसरा अंक

चौथा दृश्य

राजगृह जंगल में बुद्ध भगवान् का आश्रम

[बुद्ध शिष्यों के सहित अपने आश्रम में आते हैं। एक शिष्य चौकी लिये पीछे-पीछे आता है। बुद्ध भगवान् उस पर बैठ जाते हैं]

कौण्डिन्य—भगवन, यूँ तो महाराज के पवित्र और उदार हृदय से निकला हुआ प्रेम-प्रकाश संसार में सूर्य के समान जगमगा रहा है; परन्तु अब भी बहुत से मनुष्यो के मन पर ईर्ष्या और द्वेष का अन्धकार छा रहा है। भिक्षु-गण जब कभी नगर में जाते हैं, तो लोग उन पर हँसते हैं, चिढ़ाते हैं। वे नम्र भाव से चलते हैं, तो दुष्ट उन्हें देखकर डाह से जलते हैं।

अश्वजित्—केवल जलते ही नहीं; गालियाँ भी देते हैं। वृथा झूठे दोष लगाते हैं कि 'गौतम, शाक्यमुनि, लोगों को बहका रहे हैं; युवकों को, गृहस्थ से, सन्यासी बना रहे हैं।'

बुद्ध—भिक्षुओं, लोगों का यह आक्षेप बहुत दिनों तक नहीं रहेगा। एक सप्ताह के पश्चात फिर कोई ऐसा नहीं कहेगा। ज्ञानी की निन्दा कोई नहीं कर सकता। सच्चे को झूठा कोई नहीं कह सकता। जो तुम पर कटाक्ष करते हैं, तुम उन्हे इस प्रकार का उत्तर दो कि 'तथागत मनुष्यों से हिंसा छुड़ाकर, दया करना सिखाता है; विषय-भोगों से बचाकर केवल सत्यता का मार्ग दिखाता है।'

कश्यप—प्रभु का आशीर्वाद !

बुद्ध—लोग तुम पर क्रोध करें, तो करने दो; तुम्हें गालियाँ दें, तो देने दो! क्योंकि यदि कोई मनुष्य तुम्हें कुछ उपहार दे और तुम उसे स्वीकार न करो, तो वह उपहार किसका होगा?

अश्वजित्—देनेवाले का।

बुद्ध—बस, तो इसी प्रकार, जो गालियाँ तुम्हें दी जाती हैं, वह तुम्हारे न लेने पर देने वालो ही के पास लौट जाती हैं। परन्तु तुम उन्हें सदैव मीठे वचनो से ही शीतल करो; फल वाले वृक्ष की भाँति, पत्थर मारने पर भी, मीठे ही फल दो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

[राजा बिम्बसार और सेनापति आते हैं]

राजा—(साष्टांग प्रणाम करके) नमस्कार है! शोक सागर में डूबे

हुए संसार को अपने धर्म की नौका से पार लगाने वाले, प्रभो, आपको नमस्कार है।

सेनापति—(दण्डवत् प्रणाम करके) रोग, जरा, मृत्यु आदि व्याधियो से देहधारियों को छुड़ाने वाले, आपको नमस्कार है !

बुद्ध—आओ, दयाशील हो ! धैर्यवान हो ! मगधाधिपति, कहो, सब प्रकार से कुशल है ?

राजा—(हाथ जोड़कर) भगवान् के चरणों के प्रताप से आनन्द मंगल है।

बुद्ध—सेनापतिजी, आप भी प्रसन्न है ?

सेनापति—महाराज की प्रेम-छाया में सारे सेवक प्रसन्न हैं।

राजा—प्रभु ने जिस समय जाते हुए इस भूमि को अपनी चरण धूलि से पवित्र किया था; जिस समय यज्ञमण्डप में सत्-उपदेश देकर जीवों को प्राणदान दिया था, उसी समय से, पुनः-दर्शन के लिये लालसी नयन दिन रैन अकुला रहे थे। अब अवसर मिला है, तो मन का कमल खिला है।

बुद्ध—निस्सन्देह, राजन्, मुझ से तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी श्रद्धा इसी प्रकार है। मै तुम्हारी भक्ति को भूल नही सकता। मैंने तुमसे विदा होते समय अवश्य यह कहा था कि जिस धर्म को मैं प्राप्त करूँगा, उसमें तुम्हें अवश्य भाग दूँगा।

राजा—मैं भी उसी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। सेवक को भी सत्य मार्ग बताइये; जो सद्ज्ञान भगवान ने प्राप्त किया है, उससे दास के हृदय का अंधकार भी मिटाइये।

बुद्ध—मगधनरेश, धर्म की विस्तार-पूर्वक व्याख्या करने के लिये तो बहुत समय की आवश्यकता है, तो भी जिस धर्म को मैंने वर्षों के परीश्रम से प्राप्त किया है उसका तत्व वर्णन करता हूँ। श्रवण करो, राजन्! 'ओ३म्' को आजतक सभी अनन्त, अपार समझते चले आते हैं, और कहते हैं कि न तो उसका वर्णन वाणी से हो सकता है और न वह मन की कल्पनाओं में आ सकता है; तो फिर उसके विषय में प्रश्न करना भी भूल है, और उत्तर देना भी वृथा है। मनुष्य को इतना ही जान लेना बहुत है कि जन्म-मरण, सुख-दुख, कारण-कार्य, काल-चक्र की और अस्तित्व की ये लगातार लहरें, सदैव बनी रहती हैं।

लोग जिसे जीव या आत्मा कहते हैं, वह जीवित रहने की अवस्था है, यहाँ तक कि सारे विश्व का एकही जीवन है। अपने आपको दूसरों के अस्तित्व से पृथक् समझना ही दुःख का कारण है। जो मनुष्य अपने जीवन को दूसरे जीवन से भिन्न नहीं समझता, अपने भीतर से अहंकार और तृष्णा की जड़ उखाड़ देता है, और यह जान लेता है कि दुःख तो शरीर के साथ छाया के समान लगे ही रहते हैं—वही अपने जीवन में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

[कामकला आकर एक ओर को बैठ जाती हैं]

श्रोतागण—सत्य है! यथार्थ है!!

बुद्ध—तुमको, अपनी जीवनयात्रा में, मेरे पाँच सिद्धांतों पर ध्यान रखना चाहिये। प्रथम—संसार भर पर दया करो। किसी तुच्छ-से-तुच्छ जीव को भी किसी रीति से मत सताओ। दूसरे—परम उदारता के साथ लेन-देन का वर्ताव करो। किसी की कोई वस्तु छल से या बल से न लो। लालच न करो। तीसरे—झूठी साक्षी मत दो। कभी झूठ मत बोलो। चौथे—किसी प्रकार का मद्यपान मत करो, चाहे वह सोम-रस ही क्यों न हो। इससे बुद्धि बिगड़ती है। पाँचवें—परस्त्री की ओर व्यभिचार की दृष्टि से मत देखो।

श्रोतागण! जो विचार मैंने आप लोगों के सामने संक्षेप से उपस्थित किया है, इसी मार्ग से मैंने और मुझसे पहिले बुद्धिमानों ने, निर्वाण पद को प्राप्त किया है। यदि आप इसी प्रकार नित्य ही धर्म के संघ में सम्मिलित होते रहेंगे, तो इसकी व्याख्या विस्तार-पूर्वक सुन सकेंगे।

सब—बोलो, 'भगवान् बुद्धदेव की जय!'

[कामकला उन्मत्त-सी खड़ी हो जाती है। बुद्ध के चरणों में सिर झुकाती है]

कामकला—क्षमा करो, महात्मन्, मुझे क्षमा करो। भगवन्, मुझ पर कृपा करो, दया करो, मुझे शरण दो। मैं पापिनी हूँ, पिशाचिनी हूँ! निःसन्देह, सूर्य सूर्य ही है; बादल उसके तेज को छिपाना चाहता है; परन्तु क्या होता है? स्वयं ही नष्ट हो जाता है, उसकी किरणों के आगे आकर फट जाता है।

कुछ लोग—(चौंककर) है ! यह कौन ?

और कुछ लोग—अरे, यह तो कामकला वेश्या है ।

कामकला—हाँ, मैं कामकला वेश्या हूँ। मेरी आँखों में आँसू है और होठों पर हास्य । मैं अपनी मूर्खता पर स्वयं हो रो रही हूँ ; परन्तु इसी के कारण मेरा कल्याण हुआ है, इसलिये प्रसन्न भी हो रही हूँ—

दयादीपक की निसदिन जिस भवन में ज्योति जलती है,
सुपावन प्रेम की जिस कंद से धारा निकलती है,
क्षमा की, शान्ति की शीतल पवन जिस बन में चलती है,
वहाँ पर छल, कपट, पाखण्ड की कब दाल गलती है ?

बुद्ध—कामकला, तू यह क्या कह रही है ? तेरी बातों का क्या अर्थ है ?

कामकला—प्रभो, आप सब जानते हैं। आपको सब सामर्थ्य है ; परन्तु मैं शपथ खाकर कहती हूँ मैंने स्वयं कुछ नहीं किया । मुझ से जो कुछ अपराध हुआ, वह केवल दुष्टों के बहकाने से, पाखण्डियों के फुसलाने से ।

बुद्ध—तुझे किसने बहकाया है ; क्या अपराध कराया है ?

कामकला—इसी नगर के कुछ लोगों ने, जो भगवान् की विजय-पताका को फहराता हुआ देखकर ईर्ष्या करते हैं ।

बुद्ध—वे तुझ से क्या कराना चाहते हैं ?

कामकला—यही कि मैं यहाँ आकर भगवान के निष्कलंक

और परम पवित्र चरित्र पर कलंक लगाऊँ। परन्तु श्रीमुख से जब उपदेश सुना, तो उस कपट का सच्चाई से बदला हो गया। मन का दर्पण सत् उपदेश की विभूति से विमल हो गया।

बुद्ध—वे लोग मुझ पर किस प्रकार का कलंक लगाना चाहते हैं?

कामकला—उन्होंने यह गुट्ट की है कि नगर के लोग मुझे यहाँ आता-जाता देखेंगे, तो भगवान् के शुद्धाचरण पर शंका करेंगे। देखिये, दुराचारियों ने ओषधि लगाकर मेरा मुख पीला कर रखा है। उदर पर वस्त्र बाँध कर बोझा धर रखा है (पेट पर बधे हुए कपड़े खोल कर फेंकती है) जिस से गर्भ का चिह्न पाया जाय और उसका दोष आप पर लगाया जाय!

सब—बड़ी विडम्बना है! बड़ा पाखण्ड है!

बुद्ध—नहीं, कामकला, तुम मत घबराओ। इसमें तुम्हारा क्या दोष है? इस पर भी तुम क्षमा चाहती हो, तो मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, और तुम्हारे साथ उन लोगों को भी क्षमा करता हूँ।

कामकला—आप क्षमा के समुद्र हैं; दया के अवतार हैं। मैं आज से अपने इस बुरे व्यवसाय को भी छोड़ती हूँ, और धर्म की शरण लेती हूँ।

[कपिलवस्तु से आये हुए दूत, आगे बढकर प्रणाम करते हैं]

दूत—भगवान् का पुराना सेवक, सारथी छन्दक, प्रणाम करता है।

बुद्ध—ओहो ! छन्दक ! तुम यहाँ कहाँ ? कपिलवस्तु से कब आये ?

छन्दक—आजही, दयानिधान, अभी !

बुद्ध—कहो, तुम अच्छे तो रहे ? कपिलवस्तु में सब प्रकार कुशल है ?

छन्दक—नाथ ! और तो सब प्रकार कुशल है ; किन्तु स्वामी के वियोग से सेवक को ; पुत्र के विछोह से माता-पिता की ; और पति के विरह में पत्नी की, जो दशा होती है—सबकी वही गति है ।

बुद्ध—यथार्थ है ! मुझे भी प्रजा की भक्ति, माता-पिता के स्नेह और स्त्री के प्रेम का ध्यान है । मैंने उनके रोगों की ओषधि का पा लिया है ; परन्तु अभी उनके पास तक पहुँचाने का अवकाश नहीं मिला है ।

छन्दक—इसीलिये महाराज ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है । उनकी इच्छा है कि 'मैं अपने देहपात होने से पहले, अपने आत्मज को देख लूँ । जब वह और लोगों को अपने धर्म के अमूल्य रत्न बाँटता फिर रहा है, तो फिर इस बूढ़े बाप को उससे क्यों वञ्चित रख रहा है ?'

दूसरा दूत—हे महापुरुष, बहूरानी कहती हैं कि 'जिस प्रकार कमल सूर्य के लिये, और सरोजिनी चन्द्रदर्शन के लिये विकल रहती है, ऐसे ही मैं भी आपके दर्शन की अभिलाषा में अकुला रही हूँ ।' उन्होंने यह भी कहा है कि 'जो कुछ आप

त्याग कर गये थे, यदि उससे कुछ अधिक पा लिया है, तो उसमें मेरा भी भाग है।' किन्तु उनकी सबसे मुख्य प्रार्थना केवल श्री-चरणों के दर्शन ही के लिये है।

बुद्ध—हाँ, मैं अवश्य चलूँगा। मेरा पहले ही से ऐसा विचार था। माता-पिता की सेवा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है; क्योंकि माता-पिता से ही वह जीवन मिलता है, जिससे जन्म-मरण की फाँसो को तोड़कर, मनुष्य परमानन्दरूपी निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

सब—बुद्धं शरणं गच्छामि।

[सब पृथ्वी पर माथा टेकते हैं। बुद्ध हाथ उठाकर, आशीर्वाद देकर चले जाते हैं]

पाँचवाँ दृश्य

[गोपा अपने भवन में पृथ्वी पर लेटी हुई है]

(स्वगत) हाय ! वह नहीं आये । इतने दिन से उनके वियोग में विकल हूँ ; किन्तु वह नहीं आये ! जब से मैंने सुना कि उन्होंने सब सांसारिक सुखों को छोड़ दिया, तो मैंने भी सुखों से मुख मोड़, वेदना को अपना सहचरी बना लिया। अपने तैलसिक्त बालों को काट कर दूर कर दिया ; रत्न-जटित आभूषणों को चूर-चूर कर दिया। उनकी ही भाँति, एक ही समय, मिट्टी के पात्र में भोजन स्वीकार किया। शोभामयी वसन्त ऋतु आकर मेरे द्वार पर फूलों की वर्षा करने लगी ; मैंने उसे रोक कर कहा—'नहीं, नहीं ! मेरे प्रियतम मेरे सदन में नहीं हैं।

आँसुओं से भीगा हुआ नहीं है ?—हाय ! तब भी वह, इतनी देर से राजभवन में आने पर भी, मेरे पास क्यों नहीं आये ?

[राहुल का प्रवेश]

राहुल—माँ ! वह कौन हैं, जो राजसभा में, भिक्षुओं के साथ बैठे हुये, उपदेश दे रहे हैं ? उनके शरीर से लाखों सूर्य की ज्योति निकल रही है। उनका स्पर्श बड़ा शान्तिप्रद प्रतीत होता है। माँ ! वह कौन हैं ? वह तुम्हें बुला रहे हैं।

गोपा—(प्रसन्न होकर) वह मुझे बुला रहे हैं ? क्या, मुझे बुला रहे हैं ? चलो, पुत्र, चलो ! (प्रसन्न होकर आगे को बढ़ती है। फिर झट कुछ सोचकर दुःखित होती है और पीछे को हटती है) नहीं, मैं उनके पास न जाऊँगी ! क्या मेरा प्रेम इतना दुर्बल है ! यदि मेरा उन पर सच्चा प्रेम है, तो वह ही मेरे पास आयेंगे ; विवश हो कर आयेंगे, खिंचकर आयेंगे। (कुछ सोचकर) नहीं ! नहीं ! मेरा इतना अभिमान शोभा नहीं देता। उनके सामने मैं हूँ ही क्या ? —एक तुच्छ वस्तु !

वह देवता हैं मेरे हृदय के , हैं वह दिवाकर मेरे गगन के
मैं एक अबला हूँ, वह मेरे बल , वह मेरे स्वामी हैं तन के, मन के
वह जल के सागर, मैं एक बिन्दु, वसन्त वह, एक फूल हूँ मैं
मैं उनके चरणों की तुच्छ दासी, उन्हीं के चरणों की धूल हूँ मैं

राहुल—माँ, ऐसे वह कौन हैं ?

गोपा—मेरे अभागे बेटा, वह तेरे पिता हैं।

राहुल—(प्रसन्न होकर) तब तो, मेरे लिये वह कुछ लाये होंगे ! माँ, क्या वह मुझे कुछ देंगे ?

गोपा—हाँ, वह तेरे लिये एक ऐसी बहुमूल्य वस्तु लाये हैं, जो आजतक किसी पिता ने अपने पुत्र को नहीं दी ! वह तेरे लिये आज ऐसा खिलौना लाये हैं, जो कभी नहीं टूट सकता ; जिसके ऊपर संसार की चचलता का प्रभाव नही है। वह तेरे लिये ऐसी मिठाई लाये हैं, जिसके खाने से सारी तृष्णाएँ मिट जायँगी।

राहुल—(खिलकर) चलो, तब तो उनके पास अवश्य चलो !

गोपा—चलेगा, राहुल, चलेगा ?

[कश्यप आदि कई भिक्षुओं के साथ, सहसा बुद्ध का प्रवेश।]

गोपा—(चकित होकर, शोक के आवेग से बुद्ध से लिपटती हुई) प्राणनाथ !

[बिलखती हुई गोपा को कश्यप बुद्ध से अलग करने को बढता है]

बुद्ध—(कश्यप को रोकते हुए) रहने दो ! कश्यप, मैं जानता हूँ इसके हृदय के भीतर शोक का महासागर लहरें मार रहा है। आज उसका बाँध टूट गया है। बहने दो, आज उसे आँसुओं के रूप में बहने दो ! कश्यप, तुम उसमें कुछ बाधा न दो।

गोपा—(शोक से आतुर स्वर से) प्रियतम ! कैसे निष्ठुर होकर मुझसे बिना पूछे चले गये ! मेरे दुःख पर ध्यान न कर, काँटों से भरे हुए मार्ग में चले गये !—हाय ! अभागिनी गोपा यदि सोई हुई न होती, तो वह पहिले अपने स्वामी से विनय करती। यदि दुःखों से जकड़ी हुई पृथ्वी माता, मेरी ओर लालसा-भरी आँखों

से निहार रही है। मुझे अपनी सेवा के लिये पुकार रही है। उसकी विनय व्यर्थ जाती, तो वह अपने निर्बल बाहुपाश की दृढ़ बेड़ी बनाकर उनको चारों ओर से घेर लेती। यदि वह उसे भी तोड़ लेते, तो फिर गोपा अपनी आँखों से आँसुओं की अवि-राम धारा बहाकर अपने प्रियतम के पथ के सामने ऐसे महा-समुद्र की रचना करती, जिसको पार करना उनकी शक्ति के बाहर होता—किन्तु नाथ! आप छलसे संबन्ध तोड़कर चले गये। हाय! सोती हुई को विरह-सागर में डुबोकर चले गये!

बुद्ध—गोपा, अब, शोक को छोड़कर, देखो! आज मैं मुक्त होकर, तुम्हें मुक्त करने आया हूँ। तुम्हारा मेरे ऊपर अटल प्रेम है; किन्तु उस प्रेम की सीमा बहुत थोड़ी है। चलो, मैं तुम्हे प्रेम के बहुत बड़े साम्राज्य में प्रवेश कराऊँगा। वह राज्य इस चंचल राज्य से बढ़कर है। गोपा, क्या उसकी राजरानी बनने का तुम्हारा विचार है? राज मुकुट को दूर फेंककर भिक्षा-पात्र हाथ में लेना तुम्हे स्वीकार है?

गोपा—क्यों नहीं, नाथ? आपकी वस्तु में मेरा अधिकार है; जो बात मेरे स्वामी ने ग्रहण की, उसके लिये यह दासी भी तन, मन, धन से तैयार है।

राहुल—पिता, मेरे लिये आप जो कुछ लाये हैं, वह मुझे भी दीजिए!

बुद्ध—राहुल, तुम्हारे भिखारी पिता के पास सोना-चाँदी या रत्न-आभूषण नहीं हैं। न उसके पास क्षणिक सुख देने वालाकोई और वस्तु ही है। परन्तु उसके पास धर्म का अक्षय

भण्डार है ; एक शान्ति-प्रद ज्योति है। यदि तुम्हें उसे लेने क इच्छा हो और उसे संभाल कर रखने की शक्ति हो,—तो आओ, लो।

राहुल—मुझे सब स्वीकार है, पिता! (अपने बहुमूल्य राजवस्त्र को उतार कर फेंकता है) भगवान् बुद्ध के साम्राज्य में प्रवेश करने के लिये इस आडम्बर पूर्ण वस्त्र का त्याग करता हूँ। (भिक्षु के हाथ से, काषाय-वस्त्र और भिक्षा-पात्र लेकर धारण करता है)

गोपा—मैं भी चिरशान्ति पाने के लिये उपस्थित हूँ। (कश्यप के हाथ से भिक्षा-पात्र लेती है)

[गोपा और राहुल, बुद्ध के समीप घुटने टिका, भिक्षा-पात्र बढाते हैं]

गोपा—नाथ ! मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ; मुझे मेरा आधा भाग दीजिये। मैं धर्म की शरण हूँ।

राहुल—पिता, मुझे मेरे पैतृक धन का भाग दीजिये; मैं भगवान् बुद्ध की शरण हूँ।

[शुद्धोधन और गौतमी का प्रवेश]

शुद्धोधन—(चकित होकर) हैं ! यह क्या ! बेटा, बहू और पोता, सब-के-सब संन्यासी हो गये, बनवासी हो गये !—

अटका था इस आस में अलि गुलाब की मूल
फिर बसन्त में आयेंगे, इस डाली पर फूल।
इस डाली पर फूल, फूल पर मधु बरसेगा
करके मधुरस पान मधुप का मन हरसेगा।
किन्तु हाय दुर्भाग्य ! विधाता की निठुराई !
लता-सहित, बिन खिले, कली पल में मुरझाई !

गौतमी—(दु:खी होकर) आज तक इसी आशा में बैठी थी कि आवेगा, मेरा सिद्धार्थ लौटकर आवेगा। आँसू बहाते दिन बीते; निःश्वास छोड़ते रातें समाप्त हुईं। सिद्धार्थ लौटकर आया। किसान की प्यासी आँखों को बादल का एक टुकड़ा दिखाई दिया। विश्वास था कि वह सूखती हुई खेती को हरी-भरी कर देगा। किन्तु हाय! ऐसा न हुआ। वह बादल पानी बरसाने की जगह बिजली गिरा कर चला गया!

शुद्धोधन—संसार में, मनुष्य छल-कपट कर, धन इकट्ठा करता है; किसके लिये?—पुत्र के लिये। कम्पित देह और जीर्ण शरीर को लेकर भी इसी संसार में रहना चाहता है; किसकी आशा पर?—एक पुत्र की आशा पर!—हाय! जब मेरा पुत्र-परिवार ही मेरे हाथ से निकल गया, तो मैं किसके लिये यह नश्वर राज्य करूँ! किसके लिये शरीर पर छत्र-मुकुट धरूँ! —भगवान् मुझे भी ज्योति दो; मैं धर्म की शरण हूँ।

गौतमी—सब अन्त हो गया! सब समाप्त हो गया!! सब चले गये! मैं इस संसार में क्यों रहूँ? किसके लिये रहूँ? ठहरो, ठहरो! जानेवाले, मुझे भी ले चलो! मैं भी आती हूँ। मैं भी संसार का त्याग कर शान्ति की भीख माँगती हूँ।—मैं बोधिसत्व की शरण हूँ।

बुद्ध—चलो! संसार के कल्याण के लिये, सर्वत्र दया, धर्म और शान्ति का प्रचार करें! वह देखो!

[गोला छूटता है, और शृङ्खलाओं से जकड़ी हुई पृथ्वीमाता नीचे से प्रकट होती हैं।]

पृथ्वीमाता—आ ! मेरे लाल, आ ! युगों से तेरी बाट देखते-देखते थक गई हूँ । पाखण्ड, हिंसा और स्वार्थ का दिया हुआ कष्ट सहते-सहते नष्ट हो गई हूँ—

मेरे तन में, मेरे मन में, सुपावन शान्ति सरसा दे ।
मेरे सूखे हुए बन में दया की धार बरसा दे ।
'अछूत' और 'नीच' इन शब्दों को तू संसार से खो दे ।
बढ़े समता जगत में, बीज ऐसा प्रेम का बो दे ।
यह नर ही देवता बन जाँय, पापों को मिटा दे तू ।
यह जग ही स्वर्ग सम हो जाय, तापों को मिटा दे तू !

बुद्ध—तथास्तु !

[शब्द ! अंधकार-पूर्ण दृश्य बदलकर मनोहर उज्ज्वल दृश्य हो जाता है । पृथ्वी माता के धन आप-से-आप खुल जाते हैं । पृथ्वी के इधर-उधर दया और शान्ति, तथा पीछे धर्म का फिर आविर्भाव हो जाता है ।]

दया—जय ! हिंसा को मिटाने वाले ! दया के अवतार ! तुम्हारी जय हो !

शान्ति—जय ! अशान्ति को शान्त करने वाले, शान्ति के रक्षक ! तुम्हारी जय हो !

धर्म—जय ! पाखण्ड का नाश कर, धर्म को स्थापित करने वाले ! तुम्हारो जय हो !

[पृथ्वी दया और शान्ति को अपने गले लगाती है । धर्म उसके ऊपर अपने हाथों से छाया करता है ।]

[धीरे-धीरे यवनिका गिरती है ।]